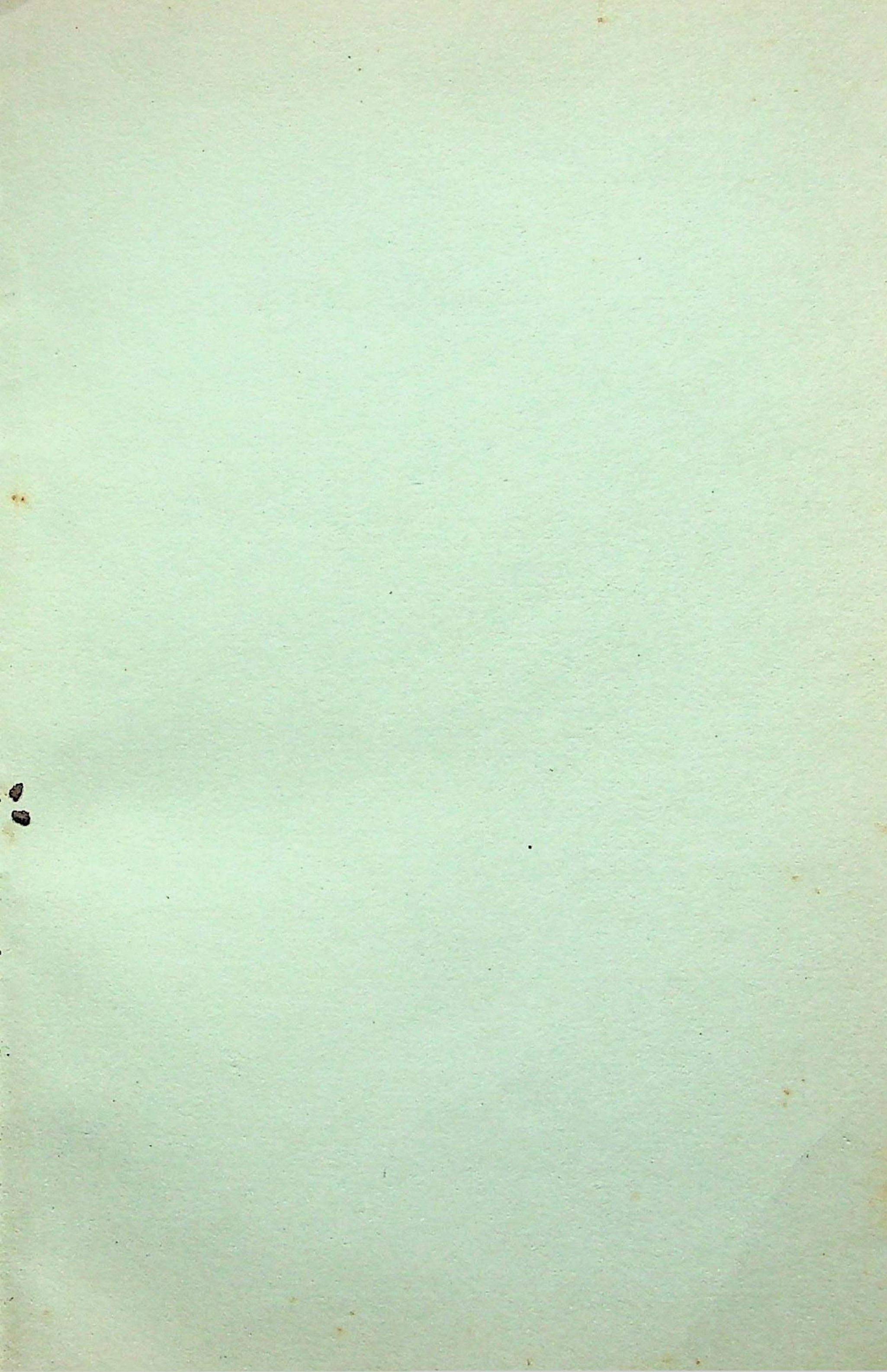


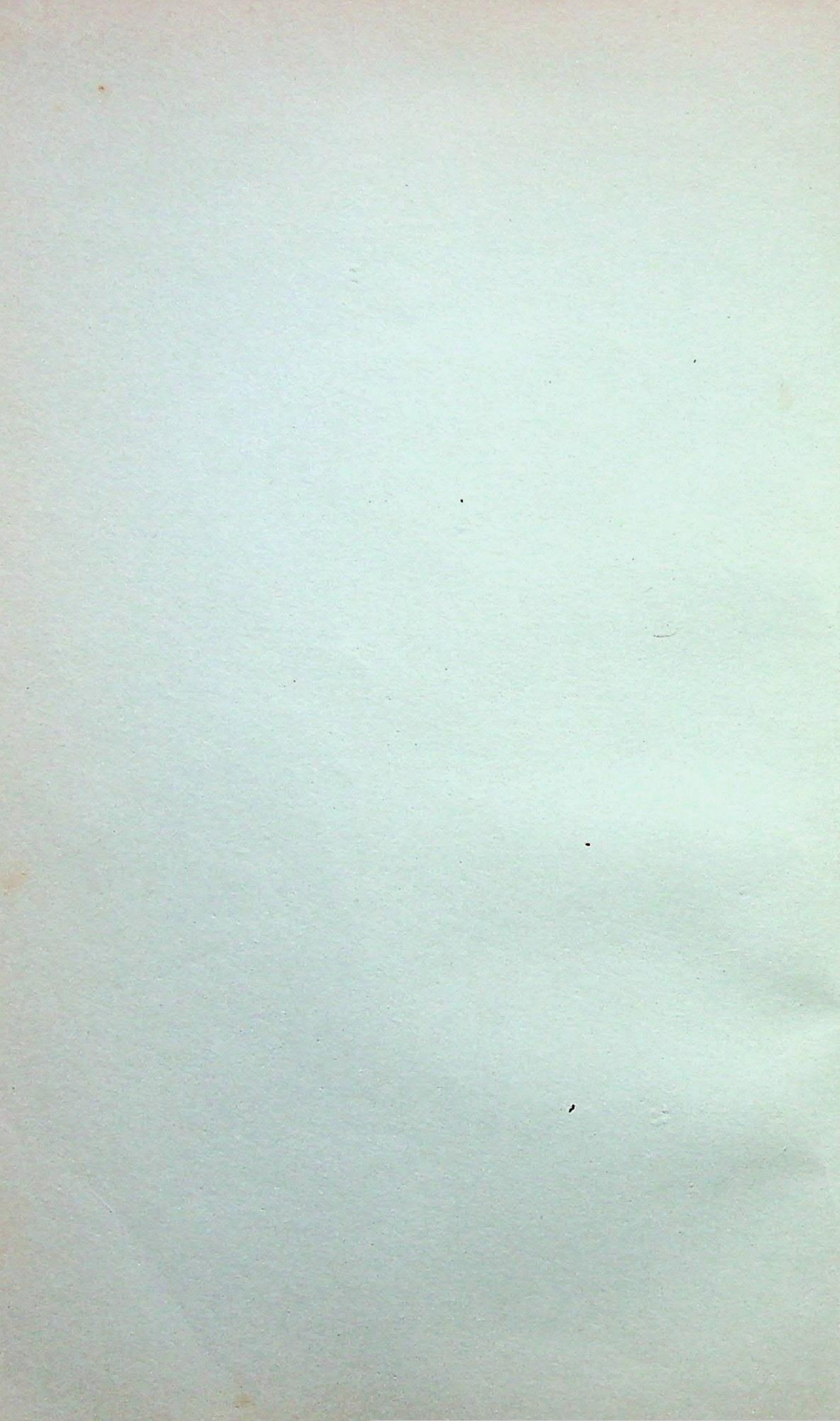
वैदिक राष्ट्र-दर्शन

महामहोपाध्याय बाल शास्त्री हरदास

- वेदाध्ययन की आधुनिक पद्धति अत्यन्त दोषपूर्ण है। बिना यज्ञ-पद्धति के ज्ञान के वेदों का योग्य अर्थ नहीं किया जा सकता।
- वेद कब लिखे गये, इस बारे में मैक्समूलर तथा लोकमान्य तिलक सहित किसी भी वैदिक विद्वान ने कोई निश्चित मत व्यक्त नहीं किया।
- वेद-काल-निर्णय में भाषा शास्त्र, भूस्तर शास्त्र, नृवंश शास्त्र, ज्योतिर्शास्त्र आदि सभी शास्त्र अविश्वसनीय सिद्ध हुए हैं।
- वैदिक काल निश्चित रूप से हिमकाल के पूर्व का है।
- वैदिक साहित्य के सहारे न तो यह सिद्ध होता है कि 'आर्य', 'द्रविड़' 'अनार्य' आदि शब्द वंश-वाचक हैं और न ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि आर्यों व अनार्यों का संघर्ष हुआ करता था।
- भारत ही आर्यों का मूल स्थान है।
- समस्त भारतीय साहित्य में केवल वेद को ही गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा विशिष्ट उच्चारण सहित कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखने का आग्रह है। ऐसा क्यों?
- आज के व्यक्त पदार्थ जिन ध्वनियों के स्थूल रूप हैं, वे विश्व के आदिद्रव्य ध्वनितरंग ही वेद हैं। वे नित्य, अपौरुषेय, स्वयंभू व अनादि हैं। उनसे ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई, आज का विज्ञान इसकी पुष्टि करता है।
- इन स्वयंभू वेदों (ध्वनि तरंगों) का जिन योग-सम्पन्न विभूतियों को तुरीयारूप ईश्वरी अवस्था में ज्ञान हुआ, वे 'ऋषि' थे। जिन्होंने दृश्यानुविद्ध समाधि के द्वारा वेदों का प्रत्यक्ष दर्शन किया, वे 'वेदद्रष्टे' कहलाये। जिन्होंने शब्दानुविद्ध समाधि में उन्हें सुना, उन्होंने वेदों को 'श्रुति' कहा व जिन ऋषियों ने उनका प्रगटीकरण किया, उन्हें 'मन्त्रकृत्' कहा गया।

मूल्य : भारत में 40.00 रुपया
विदेश में $8.00, £4.00

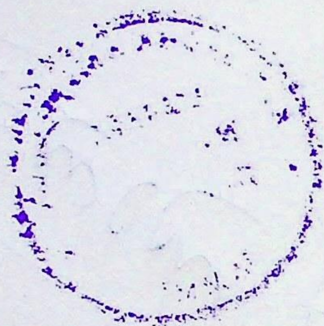




वैदिक राष्ट्र-दर्शन

खण्ड १

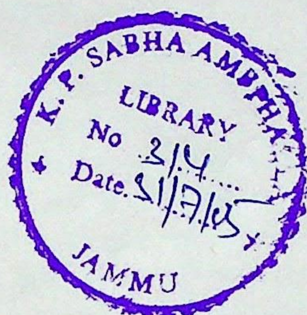
वेदों का बहिरंग



वैदिक राष्ट्र-दर्शन

खण्ड : १

वेदों का बहिरंग



लेखक

महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास

अनुवादक

कुप्पहल्ली सीतारामैया सुदर्शन



सुरुचि साहित्य

केशव कुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली-११००५५

प्रकाशक :
सुरुचि साहित्य
केशवकुंज, झण्डेवाला
नई दिल्ली-११००५५

प्रथम संस्करण : १९८२

मूल्य : ४०/-

Rs. 16

मुद्रक :
किरण मुद्रण केन्द्र, ए ३८/२ मायापुरी, नई दिल्ली।

Vedic Rashtra-Darshan Part I (Indology)
By Bal Shastri Hardas Rs. 40/-

दो शब्द

महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास का जन्म सन् १९१८ ई० में नागपुर में हुआ था। पण्डित सम्राट कृष्णशास्त्री घुले, पं० श्रीनिवास शास्त्री हरदास और काशी के पं० भाऊशास्त्री वझे सरीखे दिग्गज विद्वानों से संस्कृत व्याकरण, पंचकाव्य और वेदान्त की शिक्षा लेने वाले शास्त्रीजी ने केवल १८ वर्ष की आयु में ही न केवल काव्यतीर्थ, वेदान्ततीर्थ और साहित्याचार्य की तीन उपाधियाँ उच्च श्रेणी में प्राप्त कीं अपितु अपनी विद्वत्ता से थियोसोफ़िकल सोसायटी में ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पर प्रवचन कर न्यायमूर्ति भवानीशंकर नियोगी और श्रीमत् बाबासाहेब खापर्डे जैसे प्रकाण्ड विद्वानों को भी प्रभावित किया। यहीं से उनका 'बालशास्त्री' नाम रूढ़ हो गया। हिन्दू महासभा के माध्यम से उन्होंने अनेक आन्दोलनों में भाग लेकर स्वातन्त्र्य की लड़ाई लड़ी। सन् १९३९ में हैदराबाद, १९४१ में भागलपुर और १९४९ में रायपुर में कारावास भुगता। इस राजनीतिक पहलू के अतिरिक्त पत्रकारिता भी उनके विविधतापूर्ण जीवन का एक उज्ज्वल अंग थी। 'आदेश' और 'युगान्तर' नामक साप्ताहिकों में वे सह-सम्पादक रहे थे। आगे चलकर 'हिन्दूहृदय' नामक एक त्रैमासिक भी उन्होंने प्रारम्भ किया था।

उनके विचारों की गहराई इतनी गहन, विषय की पकड़ इतनी सबल और विवेचन शैली इतनी तर्कसंगत होती थी कि श्रोता मंत्रमुग्ध हो उठते थे। उनके ये विचार जब मराठी ग्रन्थों के रूप में प्रकाशित हुए तो हाथोंहाथ बिकने में देर न लगी। लोकनायक बापू जी अणे ने ठीक ही कहा था—"बालशास्त्री जी एक चलते फिरते विश्वविद्यालय हैं।"

प्रत्येक बड़े नगर में प्रबुद्ध एवं विद्वद्जनों के मध्य उनकी व्याख्यानमालाएं आयोजित होती थीं। भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन का पाश्चात्य विचारधाराओं के साथ तुलनात्मक विवेचन करते हुए वे अत्यधिक सशक्त और अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते थे। पुणे जैसी विद्वानों एवं विद्याव्यासंगियों की नगरी में १५-१६ वर्षों तक दो सप्ताह से लेकर एक मास तक चलने वाली उनकी व्याख्यानमालायें शास्त्रीजी की असामान्य प्रतिभा के आलेख हैं।

'वेदांतील राष्ट्रदर्शन' नामक उनके मराठीग्रन्थ का अंग्रेजी रूपान्तर कामकोटि प्रकाशन से प्रकाशित हुआ। उनके 'भारतीय स्वातन्त्र्य समर : सत्तावन ते सुभाष' का अंग्रेजी अनुवाद 'Armed Struggle for Freedom'

नाम से १९५८ में हुआ और हाथोंहाथ बिक गया। डा० बा० शि० मुन्जे सम्बन्धी उनके चरित्र ग्रन्थ को महाराष्ट्र सरकार का प्रथम पुरस्कार मिला था।

विद्या का यह असीम सागर सन् १९६८ में ५० वर्ष की अल्पायु में ही अपनी इहलीला समाप्त कर ब्रह्म में लीन हो गया। इस सागर का पावन जल जिन ग्रन्थ-रूपी कुछ गागरों में सुरक्षित है, उन्हीं में से एक 'वेदांतील राष्ट्रदर्शन' का मूल मराठी से हिन्दी रूपान्तर 'वैदिक राष्ट्र-दर्शन' ज्ञानपिपासु पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत है।

'वैदिक राष्ट्र-दर्शन' उनकी पूना की चौथी और पाँचवीं व्याख्यानमाला का विषय था। इस समय चौथी व्याख्यानमाला को ही तीन खण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है। यह विषय का पूर्वार्द्ध है। सहृदय पाठक यदि लगातार उत्साह दिलाते रहे तो उत्तरार्द्ध भी शीघ्र ही प्रकाश में आ जावेगा, ऐसी आशा है।

अर्चना, रामबाग
इन्दौर

कुप्प० सी० सुदर्शन

अनुक्रमणिका

१

विषय-प्रवेश

गत डेढ़ सौ वर्षों के पारतंत्र्य पाश से मुक्त होकर भारत के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् उसके समक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा अपने में अन्य अनेकों समस्याओं का समावेश कर सकने वाला जो सर्वंकष प्रश्न समुपस्थित हुआ है, वह यह कि स्वतंत्र भारत में नवीन राष्ट्रीय जीवन को किन मूलभूत तत्वों की आधार शिला पर अधिष्ठित किया जाय। यह ठीक है कि जगत् के अन्यान्य राष्ट्रों से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं; किन्तु अपने वैभव सम्पन्न भूतकाल के द्वारा अपनी अस्मिता के स्वरूप को समझकर स्वतः के जीवन मंदिर की आधार शिला निश्चित करना और भी अधिक महत्वपूर्ण है।

इस दृष्टि से जब हम भारतीय राष्ट्रीयता का विचार करने लगते हैं, तब जगत् के राष्ट्रों के इतिहास में उसके विशेष रीति से प्रगट होने वाले स्वरूप पर हमारा ध्यान केन्द्रित हुए बिना नहीं रहता। जगत् के सब राष्ट्रों को जन्म-मरण के चक्र में फँसना पड़ा है। उत्पत्ति, विकास व विनाश के त्रयीचक्र से जिस प्रकार व्यक्ति का छुटकारा नहीं होता, उसी प्रकार हम देखते हैं कि जगत् के राष्ट्रों का भी इस चक्र से छुटकारा नहीं हो सका है। यह बात जगत् के इतिहास से सिद्ध है। परन्तु भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जो जन्म, विकास व मृत्यु के इस चक्र से पूर्णरूप से मुक्त हुआ दिखाई देता है। इस राष्ट्र के आदि की खोज करने के प्रयत्नों में अनुसन्धानकर्ता एवं उनके साधन बार-बार असमर्थ सिद्ध हुए हैं। हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर खड़े होकर भारतीय राष्ट्र ने यदि आयु में अपने से बड़े किसी बंधु को ढूंढ़ने का प्रयास किया तो उसे केवल निराशा ही हाथ लगेगी। समस्त इतिहासज्ञों ने अब यह बात मान्य कर ली है कि इस ज्ञात जगत् में देवी शारदा का सर्वप्रथम वीणाझंकार भारतीयों का ऋग्वेद ही है। इस ऋग्वेद में भारतीय अस्मिता का सिद्ध स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन असुर राष्ट्रों का अथवा आधुनिक पारसियों का धर्मग्रंथ अवेस्ता भी ऋग्वेद की अपेक्षा अर्वाचीन ही है। सुमेरियन, खाल्डियन आदि संस्कृतियाँ भी भारतीय संस्कृति से अधिक प्राचीन सिद्ध नहीं होतीं तथा सिंधु संस्कृति तो हिंदु संस्कृति ही है, यह

अब सिद्ध हो चुका है। वहाँ के कितने ही चिन्हों का स्पष्टीकरण भारतीयों के सांस्कृतिक वर्णनों से होता है। अन्य संस्कृतियों के साथ दिखलाई देने वाले साम्य के आधार पर जो लोग यह कहते हैं कि भारतीय संस्कृति उन संस्कृतियों की ऋणी है, उन लोगों को केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि सादृश्यता का प्रमाण उभयमुखी हुआ करता है।

मोहेंजोदड़ो में दो चित्र हैं—एक में एक झाड़ की शाखा में से दो, तथा दूसरी में छः मुख निकले दिखाये गये हैं। उन्हें देखकर अनुसन्धानकर्त्ताओं ने कल्पना की है कि वे वृक्षों पर रहने वाले भूत होंगे। परन्तु, चूँकि ये चित्र एक उच्च संस्कृति के अवशेष के रूप में प्राप्त हुए हैं, अतएव यह समझने के लिए पर्याप्त आधार है कि उनके द्वारा ऋग्वेद के 'अस्यवामस्य' सूक्त में वर्णित, एक ही वृक्ष पर फल खानेवाले व न खानेवाले दो सुपर्णों का, व छः भुवनों को सम्हालने वाले एक अज का निर्देश होता है।

यदि इस प्रकार जगत् की भिन्न-भिन्न प्राचीन संस्कृतियों के गूढ़ तत्वों का स्पष्टीकरण भारतीय राष्ट्र के साहित्य में वर्णित संकेतों से होता हो, तो सादृश्यता के प्रमाण का सच्चा अर्थ क्या होगा यह बताने की आवश्यकता ही नहीं। तात्पर्य यह, कि भारतीय राष्ट्र की अपेक्षा अधिक प्राचीन राष्ट्र जगत् में दूसरा नहीं है। बड़े भाइयों के संबंध में तो यह बात हुई; हमारे कोई छोटे भाई भी हैं या नहीं, इसकी यदि हम खोज करें तो हमें इतिहास के द्वारा यही दिखाई देगा कि हमारे सब छोटे भाई कुछ काल तो इतिहास के क्षेत्र में विद्युत् के समान चमके परन्तु अन्ततोगत्वा वे अल्पायु ही सिद्ध हुए। समस्त यूरोप को तत्वज्ञान की दीक्षा देने वाले तथा 'केवल हम ही दुनियाँ में राज्य करने के लिए जन्मे हैं, और इसलिए, अन्य मानवसमाजों को निसर्गतः हमारा दास्य स्वीकार करना चाहिये' ऐसी उन्मत्त गर्जना करने वाले एरिस्टाटल व प्लेटो, फ़िलिप व एलेक्जेंडर का वह ग्रीक राष्ट्र आज कहाँ है? समस्त यूरोप को आत्माभिमान व विधिनियम की देन से उपकृत करने वाला सीजर का वह रोमनराष्ट्र आज कहाँ है? जड़वाद पर अधिष्ठित नये पूँजीवादी व साम्यवादी राष्ट्र आज वहां निर्मित हुए दिखाई देते हैं। जार का रशिया समाप्त होकर उसकी जगह नया राष्ट्र उत्पन्न हुआ है। हमारे जितना ही दीर्घकालीन जीवन व्यतीत करने वाला चीन परसों तक बौद्धधर्मी था; उस चीन की अस्मिता हमी ने सिद्ध की थी, परन्तु विरोधविकासवादी साम्यवाद को अंगीकार कर चीन ने भी अब नया जन्म लिया है। जहाँ यह सत्य है कि चीन में नवीन राष्ट्र उत्पन्न हुआ है, वहाँ यह भी सत्य है कि वहाँ का प्राचीन राष्ट्र मृत हो गया। और इसीलिए मैं कहता हूँ कि जगत् के इतिहास में भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जिसने मृत्यु पर विजय पाई है।

राष्ट्रों का जन्म-मरण

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि राष्ट्रों के जन्म-मरण का वास्तविक अर्थ क्या है ? क्योंकि जिन-जिन राष्ट्रों को हम मृत हुआ मानते हैं, उनके भूप्रदेशों का तो आज भी अस्तित्व है ही तथा प्राचीन लोगों का रक्त ही आज भी उनके वंशजों के शरीरों में संचार कर रहा है। तब फिर राष्ट्र मर गया या नवीन राष्ट्र का जन्म हुआ, इसका क्या अर्थ हो सकता है ?

व्यक्ति के समान ही राष्ट्र की भी 'अस्मिता' होती है। अस्मिता याने अन्य पदार्थों से भिन्नता दर्शाने वाले वैशिष्ट्यों से युक्त व उनसे सिद्ध होने वाला अपने अस्तित्व का भाव। अन्य राष्ट्रों से भिन्न व एक विशिष्ट समाज में सर्वत्र अनुस्यूत रहने वाली विशिष्ट आत्मा को ही राष्ट्र की अस्मिता कहते हैं। यह आत्मा जिन वैशिष्ट्यों के द्वारा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व व भिन्नत्व प्रगट करती है, उन्हीं पर उस राष्ट्र का अस्तित्व व राष्ट्र के नाते उसका जीवन अवलम्बित रहता है। एकात्म भावजीवन से युक्त समाज ही राष्ट्र है। इस भावजीवन का अथवा अपनी अस्मिता के वैशिष्ट्यों का कोई भी राष्ट्र जब पूर्णरूप से परित्याग कर देता है तब ऐसा कहा जाता है कि वह राष्ट्र नष्ट हो गया। उसी समाज ने यदि बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के भावजीवन को स्वीकार किया, तो समझना चाहिए कि उस स्थान पर एक नवीन राष्ट्र का जन्म हुआ है। हो सकता है कि जन्म लेने वाला नया राष्ट्र प्राचीन राष्ट्र की अपेक्षा अधिक तेजस्वी व विकसित हो, परन्तु इस कारण यह सत्य अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि प्राचीन राष्ट्र मृत व नष्ट हो गया। ग्रीक राष्ट्रों से लेकर ज़ार के रशिया तक फैले राष्ट्रों की मृत्यु का यही अर्थ है, और इसी से भारतीय राष्ट्र की मृत्यु पर विजय का वास्तविक अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। किसी भी निष्पक्ष निरीक्षक को यह मान्य करना ही पड़ेगा कि आज के भारतीय समाज का भावजीवन सहस्रावधि वर्षों से ज्यों का त्यों अक्षुण्ण चला आ रहा है व आज भी भारतीय जन उसी भाव-जगत् में विचरण कर रहे हैं। अथर्ववेद व महाभारत में गौ के संबंध में व्यक्त होनेवाली मातृत्व की जीवित भावना आज भी ज्यों की त्यों दृष्टिगोचर होती है। श्रीराम व श्रीकृष्ण जिस भावना से गंगा के प्रवाह की ओर देखा करते थे, उसी भावना से आज का हिंदु भी उस प्रवाह की ओर देखता है। इस कारण जहाँ अन्य समाजों में उनके प्राचीन इतिहास के अवशेष, उनकी दृष्टि से, केवल ऐतिहासिक पदार्थ संग्रहालय की एक दर्शनीय वस्तु के नाते ही अस्तित्व में हैं, वहाँ केवल भारतीय राष्ट्र ही ऐसा है जहाँ का वर्तमान समाज आज भी अपने प्राचीन भावजगत् से वैसी ही उत्कट संवेदना से एकात्म हुआ दृष्टिगोचर होता है। भारतीय इतिहास समिति के तत्वावधान में होने वाले इतिहास के प्रथम खंड की प्रस्तावना में श्री कन्हैयालाल मुंशी ने भी इस बात को

जगत् का महान् आश्चर्य कहा है। यहीं कारण है कि हम अपने अतीत में से अपने भविष्य का आलम्ब खोज सकने में समर्थ हैं। हम यह भी देखते हैं कि हमारे इस भावजीवन के संबंध में हमारे द्रष्टा पुरुषों का यह दृढ़ विश्वास था कि परमेश्वर ने मानवजाति के उद्धार के हेतु ही इस भाव-जीवन की धरोहर हमारे हाथों सौंपी है तथा इस भूमि के प्रत्येक रज:कण से उसका निकट का संबंध है। यह भावजीवन ही राष्ट्रीयत्व है। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इन आर्ष शब्दों में जिस प्रकार वेदमंत्रों के प्राचीन द्रष्टा ऋषियों ने इस भावना के महत्व का प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार आधुनिक युग के महान् योगी श्री अरविन्द घोष ने भी उसकी महत्ता वर्णित की है।

श्री अरविंद की राष्ट्रमीमांसा

अलीपुर बम प्रकरण में जेल से छूटने के उपरान्त श्री अरविंद घोष का कलकत्ता के उत्तरपाड़ा विभाग में सत्कार समारंभ हुआ। उस प्रसंग पर उन्होंने जो भाषण दिया वह प्रसिद्ध है। उस भाषण में श्री अरविन्द घोष ने कहा :

"Now that I have come out, even in these few minutes, a word has been suggested to me which I have no wish to speak. The thing I had in my mind, 'He' has thrown from it, and what I speak is under an impulse and a compulsion.

"...........When you go forth, speak to your nation always this word, that it is for Sanatan Dharma that they arise, it is for the world and not for themselves that they arise. I am giving them freedom for the service of the world. When, therefore, it is said that India shall rise, it is the Sanatan Dharma that shall rise. When it is said that India shall be great, it is the Sanatan Dharma that shall be great. When it is said that India shall expand, and extend itself, it is the Sanatan Dharma that shall expand and extend itself over the world. It is for the Dharma and by the Dharma that India exists. To magnify the religion means to magnify the country.

"...........It is the Hindu religion only because the Hindu nation has kept it, because in this peninsula, it grew up in the seclusion of the Seas and the Himalayas, because in this ancient and sacred land, it was given as a charge to the Aryan Race to preserve through the ages.

"...........I spoke once before with this force in me and I said then that this movement is not a political movement and that nationalism is not politics but religion, a creed, a faith. I say it again to-day, but I put it in another way. I say no longer

that nationalism is a religion, a creed, a faith; I say that it is the Sanatan Dharma which for us is nationalism. This Hindu nation was born with Sanatan Dharma. With it, it moves and with it, it grows. When the Sanatan Dharma declines, then Nation declines, and if the Sanatan Dharma were capable of perishing, with the Sanatan Dharma it would perish. The Sanatan Dharma that is nationalism. This is the message that I have to speak to you."

[अभी मेरे जेल से बाहर आने के पश्चात्, इन्हीं कुछ क्षणों में, मुझे एक संदेश की प्रेरणा मिली है। वस्तुत: उसे बतलाने की तथा उसका उच्चारण करने की मेरी इच्छा नहीं थी। परन्तु ईश्वर ने ही यह प्रेरणा मेरे मन में निर्माण की व इसी प्रेरणा के नियन्त्रण व प्रभाव के कारण मुझे उसे बतलाना ही पड़ेगा। ईश्वर ने मुझे यह बताया है कि बाहर जाने के पश्चात् मैं सदैव अपने राष्ट्र को यह बताया करूँ कि सनातन धर्म के लिये ही उसका अस्तित्व है। उसका पुनरुत्थान उसके स्वत: के लिये नहीं, अपितु विश्व के कल्याण के लिये है। इसलिए जब ऐसा कहा जाता है कि भारत का पुनरुत्थान होगा, उस समय उसका वास्तविक अर्थ यही होता है कि सनातन धर्म का पुनरुत्थान होगा। हिन्दुस्थान श्रेष्ठता प्राप्त करेगा इस कथन का वास्तविक अर्थ यह है कि सनातन धर्म श्रेष्ठता प्राप्त करेगा। हिंदुस्थान बढ़ेगा व पूर्णरूप से विकसित होगा ऐसा कहते समय वास्तविक अर्थ यही होता कि सनातन धर्म बढ़ेगा व जगत् में प्रसार पावेगा। धर्म के लिये व धर्म के कारण ही हिंदुस्थान का अस्तित्व है। धर्म में चैतन्य का निर्माण करना ही देश में चैतन्य उत्पन्न करना है। वास्तव में यह कल्याणकारी विश्वधर्म है। इसे हिंदु धर्म कहते हैं। क्योंकि हिन्दुराष्ट्र ने ही इसका संरक्षण किया है व इसे टिकाये रखा है। सागर व हिमालय के मध्य में अवस्थित इस पवित्र भूमि में इस धर्म का संवर्धन हुआ है व इस प्राचीनतम और पावन भूमि में, एक पवित्र कर्तव्य के नाते इसकी रक्षा का भार आर्य लोगों पर प्रागैतिहासिक काल से सौंपा गया है। इसीलिए इसे हिंदु धर्म कहते हैं। इसी ईश्वरी प्रेरणा के बल पर मैंने एक बार पहले आप लोगों को बताया था कि यह आन्दोलन कोई राजनीतिक आंदोलन नहीं; राष्ट्रीयत्व कोई राजकीय प्रक्रिया नहीं, अपितु धर्म, कर्तव्य कर्म व एक महान् श्रद्धासंपन्न ध्येयवाद है, एक जीवन निष्ठा है। आज पुन: मैं वही बात कहता हूँ, पर दूसरे ढंग से। इसके पश्चात् मैं यह न कहूँगा कि राष्ट्रीयत्व एक ध्येयवाद, एक धर्म व एक जीवननिष्ठा है, बल्कि यह कि हम भारतीयों के लिये सनातन धर्म ही राष्ट्रवाद है। इस हिंदु राष्ट्र का जन्म सनातन धर्म के साथ ही हुआ। धर्म के साथ ही इस राष्ट्र को गति प्राप्त होती है व धर्म के विकास में ही इस राष्ट्र का विकास निहित है।

सनातन धर्म यदि पतन पावेगा तो उसके साथ यह राष्ट्र भी पतन पावेगा तथा यदि सनातन धर्म नष्ट होने योग्य होगा तो उसके साथ यह राष्ट्र भी नष्ट हो जायेगा। सनातन धर्म ही हमारा राष्ट्रीयत्व है। यही वह संदेश है जो ईश्वर ने तुम्हें बताने के लिये मुझे दिया है।]

श्री अरविन्द के इस संकेत के अनुसार यदि किसी ने एकात्म भावजीवन का विचार कर भारत की वास्तविक राष्ट्रीयता का नामकरण करने का प्रयास किया तो वह सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि भिन्न-भिन्न काल-खंडों के अनुसार भारतीय राष्ट्र, हिंदू राष्ट्र आदि विभिन्न नामों के रहने के पश्चात् भी 'वैदिक राष्ट्र' ही उसका वास्तविक नाम है। श्री अरविन्द घोष के कथनानुसार ईश्वर ने जिस पवित्र संदेश को मानव समाज में प्रसारित करने का कार्य आर्य लोकसंघ को सौंपा है, वह संदेश वेदों के रूप में ही इस जगत् में सर्वप्रथम अवतीर्ण हुआ व इस दृष्टि से वेद ही समस्त धर्मों के मूल सिद्ध होते हैं। ('वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' यह स्मृतिकारों का वचन है।)

आज की इस नवनिर्माण की वेला में सर्वाधिक महत्व का प्रश्न यह है कि आज तक चले आये हुए तथा मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाले इस भारतीय भावजीवन को चीन के समान नष्ट कर आत्महत्या कर ली जाय, या कि उसी भावजीवन की आधारशिला पर अपने भावी जीवन-मन्दिर की निर्मिति कर मृत्युंजय परम्परा अक्षुण्ण रखी जाय। यह भावजीवन यदि नष्ट होने योग्य होता तो कभी का नष्ट हो गया होता। पर वह अभी तक जीवित है। इसलिए स्पष्ट है कि उसमें जीने की पात्रता है। यदि उसे जीवनमंदिर की आधारशिला के रूप में प्रयुक्त करना हो तो यह आवश्यक है कि हम उसके स्वरूप का अध्ययन करें, और यह वेदों के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं; क्योंकि भारतीयों का धर्म, उनकी नीति या उनकी जीवनदृष्टि का सम्यक् ज्ञान वेदों के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना केवल हमारे लिए ही नहीं अपितु मानव समाज के इतिहास की दृष्टि से भी आवश्यक है। डॉ० केतकर सरीखे व्यक्ति ने वेदों के सम्बन्ध में जो उद्गार निकाले हैं वे इस दृष्टि से अतिशय मूल्यवान हैं। डॉ० केतकर कहते हैं :—

"वेद समस्त विद्याओं के उद्गम हैं। यह कथन इतना वास्तविक व सर्व-मान्य है कि उस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। अपने पूर्वजों के (जो अनेकों यूरोपीय लोगों के भी पूर्वज थे) प्राचीनतम स्थितिबोधक साहित्य के अवशेष के रूप में विद्यमान वेदों को जगत् के साहित्य के इतिहास में अग्र-स्थान देना आवश्यक है, यह बात यूरोपीय विद्वानों ने भी स्वीकार की है। हम हिन्दुओं के ज्ञान, विचार व भावनाओं को वेदों के कारण ही निश्चित स्वरूप प्राप्त हुआ है। आज कितने ही हजार वर्षों से कोटि कोटि भारतीय

वेदाक्षरों को ईश्वरीय वाणी मानते चले आ रहे हैं। भारतीय साहित्य में वेद प्राचीनतम होने के कारण भारतीयों के आध्यात्मिक जीवनक्रम व संस्कृति का यथार्थ ज्ञान वैदिक साहित्य के अध्ययन के बिना प्राप्त होना सम्भव नहीं। वैसे ही, वेदकालीन परिस्थिति पर ध्यान दिये बिना तथा वेदों को पूर्वस्थिति-बोधक साहित्य के अवशेष के रूप में देखे बिना अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में हमें जानकारी नहीं हो सकती। यही सोचकर अनेकों सुशिक्षित यूरोपीय भी यह अनुभव करने लगे हैं कि वेदों के प्रति पूज्यभाव रखना अपना कर्त्तव्य है। चीन व जापान के पंडितों को भी वेदाभ्यास आवश्यक है क्योंकि बौद्ध संप्रदाय की जन्मभूमि हिन्दुस्थान ही होने के कारण वेदों की जानकारी के बिना उस संप्रदाय के रहस्य का अर्थात् इतिहास सहित ज्ञान का यथार्थ रूप से आकलन नहीं हो सकता। नये को पुराने का ज्ञान होना आवश्यक है। पश्चिम में ईसाई "प्राचीन संहिता" को समझे बिना "नव संहिता" नहीं समझ सकते। उसी प्रकार, वेद कालीन धर्म व वेदोक्त तत्वों को समझे बिना, किस परि-स्थिति में किसी नवीन मत अथवा धर्म का उदय हुआ, यह समझना सम्भव नहीं।"[1]

मेक्समुल्लर ने तो यहाँ तक प्रतिपादित किया है कि मानवता के इति-हास का आदिमूल केवल वेदों में ही होने के कारण मानव इतिहास के अध्ययन कर्ताओं को वेदों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। यहाँ इस व्याख्यानमाला में मुझे इस बात का मंडन करना है कि वेदों में केवल भारत की राष्ट्रीय अस्मिता का मूल नहीं, वरन् उसका पूर्ण परिणत स्वरूप दृष्टिगोचर होता है तथा आगे चलकर भारतीय संस्कृति के सागर के समान विशाल स्वरूप में उसी अस्मिता का दिग्दर्शन होता है। अपनी इस राष्ट्रीय अस्मिता को समझ लेने के लिए जब हम वेदों की ओर उन्मुख होते हैं उस समय भारतवर्ष की राष्ट्रीय परम्परा में उनके विशिष्ट स्थान व उनके सम्बन्ध में भारतीयों की विशिष्ट धारणा पर ध्यान केन्द्रित हुए बिना नहीं रहता।

वेदों का महत्व व उनके सम्बन्ध में भारतीयों की धारणा

भारतीय साहित्य में जो स्थान वेदों को प्राप्त हुआ है, वह अन्य किसी भी साहित्य को प्राप्त नहीं हुआ। सच पूछा जाय तो वेदनिष्ठा भारतीयों के राष्ट्रघटकत्व का एक महत्वपूर्ण अंग रही है। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि राजा प्रतापी के सबसे बड़े लड़के देवापि ने वेदों की अवहेलना की इस कारण उसका राज्य सिंहासन का अधिकार चला गया। वेद सम्बन्धी पूज्य भावना वेदों के पश्चात् उत्पन्न हुए साहित्य में ही दृष्टिगोचर होती हो सो बात नहीं है; प्रत्यक्ष वेदों में ही उनकी अपौरुषेयता व ईश्वर के समान उनके महत्व का

१. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष प्रस्तावना खण्ड, भाग दो, वेदविद्या
—डा० एस० वी० केतकर

वर्णन प्राप्त होता है। इससे यह अनुमान निकलता है कि आज जो ऋग्वेदादि संहितायें हैं, उनके पूर्व से ही वेदों को आत्यंतिक महत्व प्राप्त होता रहा है व आज की वेद संहिताओं के पूर्व से ही वेदपठन की परम्परा इस देश में चली आ रही है। भारतादि ग्रंथ कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों व उनकी रचना व्यासादि सरीखे ईश्वरावतार माने जाने वाले व्यक्तियों ने ही क्यों न की हो, परन्तु उनको वेदों जैसा महत्व प्राप्त नहीं होता; क्योंकि आखिर किसी व्यक्ति ने ही उन्हें लिखा है। किन्तु वेदों के सम्बन्ध में सद्यः प्राप्त वेदों की संहिता में भी यही उत्कट श्रद्धा देखने को मिलती है कि वेद किसी ने रचे नहीं। उनका प्रादुर्भाव केवल ईश्वर से ही हुआ है तथा वे अनंत हैं और बीच-बीच में उनका अंशतः प्रगटीकरण हुआ करता है। ईश्वर व वेद एकरूप हैं। ईश्वर जितना नित्य, अनादि, स्वयंभू व प्रतिभाशाली है उतने ही वेद भी नित्य, अनादि, स्वयंभू व प्रतिभाशाली हैं। प्रत्यक्ष ऋग्वेद से लेकर श्री तुकाराम के काल तक वेदों के सम्बन्ध में यही दृढ़ श्रद्धा चली आई दिखाई देती है। ऋग्वेद के समय से चली आई इस उत्कट धारणा के प्रत्येक कालखंड के प्रतिनिधि स्वरूप कुछ उद्गार मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ। इनसे हम समझ सकेंगे कि इस उत्कट निष्ठा की परम्परा कैसी अक्षुण्ण रही है।

वेदों में वेदों का महत्व

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

"सर्वात्मक विराट्पुरुष को पशु बनाकर देवों ने उसका यज्ञ किया जिससे ऋचा, साम, छन्द व यजु उत्पन्न हुए।" —ऋग्वेद पुरुषसूक्त

स (इंद्र) वा ऋग्भ्योजायतऽतस्मादृचोऽजायन्त।

"वह इंद्र ऋचाओं से उत्पन्न हुआ तथा ऋचायें इन्द्र से उत्पन्न हुईं।"
—अथर्ववेद

तेभ्यस्त्रयेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त।
अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः॥

"प्रजापति से अग्नि, वायु व सूर्य उत्पन्न हुए व इन त्रिविध जगमगाते प्रकाशों से तीन वेद उत्पन्न हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद व सूर्य से सामवेद।" —शतपथ ब्राह्मण

अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो।
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासपुराणम्॥

"हे मैत्रेयी, महद्भूत परमेश्वर के श्वास ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद हैं।" —बृहदारण्यकोपनिषद्

तँह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिवदर्शयांचकार ।
तेषा् हैकैकस्मान्मुष्टिमाददे । स होवाच ।
भरद्वाजेत्याऽमंत्र्य वेदा वा एते अनंता वै वेदाः ।

"ब्रह्मदेव ने भरद्वाज को तीन पर्वतप्राय वेद दिखलाये व उन वेदों की तीन पर्वततुल्य राशियों में से एक एक मुट्ठी वेद हाथों में लेकर वे बोले, "हे भरद्वाज, ये जो तीन पर्वत दिख रहे हैं, ये वेदों की राशियाँ हैं। उनके एक एक कण को एक एक स्वतन्त्र वेद ही समझ। वेद अनंत हैं व उनका पार पाना असम्भव है।" —तैत्तिरीय ब्राह्मण

ऋग्वेद में तो इससे भी विलक्षण भावना निम्नानुसार व्यक्त की गई है :—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वेनिषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत तद्विदुस्त इमे समासते । —ऋग्वेद १-१६४-३९

इस ऋचा में स्पष्ट कहा है कि 'यह जड़-विश्व ही नहीं अपितु उसका संचालन करने वाली तथा उसके लिए कारणीभूत होने वाली दिव्य शक्तियाँ भी इस ऋचा में वास करती हैं। इसे जो समझ सकेगा वही उन्हें प्रगट भी कर सकेगा। यह रहस्य यदि किसी की समझ में नहीं आता तो उसके लिए यह ऋचा क्या कर सकती है!'

स्मृतियों में वेद विषयक भावना

प्रत्यक्ष वेदों में जिन उद्‌गारों का उल्लेख हुआ है उन्हीं का अनुवाद स्मृतियों में भी किया गया है। यहाँ केवल समस्त आस्तिक स्मृतियों का प्रति-निधित्व करने वाली मनुस्मृति का ही उल्लेख करता हूँ। अन्य स्मृतियों में भी थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ यही बात बताई गई है। मनुस्मृति में कहा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनं ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ १-२३
सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वैं ॥ २-८
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥ २-१०
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधूभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिंदकः ॥ २-११
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ २-१३
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ १२-९४
सैनापत्यं च राज्यं च दंडनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १२-१००

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। १२-१०२
हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ।
ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैनः प्राप्नोति किंचन ।। ११-२६१

अर्थात्

"तब यज्ञ की सिद्धि के लिये ब्रह्मदेव ने अग्नि, वायु व सूर्य से ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद की उत्पत्ति की ।"

"विद्वान् पुरुषों को चाहिए कि वे ज्ञानदृष्टि से सब बातों को समझकर, वेदों में जिस धर्म के अनुसार चलने के लिये कहा गया है, उसके अनुसार चलें।"

"श्रुति वेदों को कहते हैं व मन्वादि के शास्त्र स्मृति कहलाते हैं। ऐसे तर्क अथवा बुद्धिवाद का अवलंबन नहीं करना चाहिए जो इन दोनों का विरोधी हो। इसका कारण यह है कि उनके द्वारा धर्म प्रगट हुआ है। जिन्हें धर्म का ज्ञान प्राप्त करना है, उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेद ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं।"

"वेद ही पितर्, देव व मनुष्यों के सनातन चक्षु हैं तथा कोई भी मनुष्य वेद व शास्त्रों का अपनी गतिशील प्रतिभा से भी पार नहीं पा सकता। सेनापति पद, राज्य, दंडनेतृत्व व सब लोगों पर आधिपत्य—इन सब पर वेद व शास्त्र के ज्ञाता का ही वास्तविक अधिकार है। वेद व शास्त्रों के ज्ञान का सम्पादन कर जो आश्रमधर्मानुसार आचरण करता है, वह इस लोक में ही मुक्त हो जाता है। यही नहीं, त्रिलोक की हत्या करने वाला तथा चाहे जिसके अन्न का भक्षण करने वाला मनुष्य भी यदि ऋग्वेद जानता है तो वह निष्पाप व निष्कलंक ही बना रहता है।"

इतिहास, पुराण व दर्शनशास्त्र

प्रत्यक्ष वेद व मनुस्मृति में वेदों के संबंध में जिस पूज्य भाव का दर्शन होता है वही पूज्य भाव प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास के ग्रंथ रामायण व महाभारत में भी दृष्टिगोचर होता है। रामायण में महर्षि वाल्मीकि द्वारा लवकुश को सिखाई गई रामायण के संबंध में 'वेदोपबृंहणार्थाय' इन स्पष्ट शब्दों का उल्लेख हुआ है तथा इस प्रकार वेदों से रामायण की तुलनाकर, रामायण का महत्व बताने का प्रयत्न किया गया है। रामायण के उत्तरकांड के १११वें सर्ग में रामायण के महत्व को विशद करते समय 'रामायणं वेदसमं' इन स्पष्ट शब्दों का उल्लेख हुआ है। रामायण व महाभारत दोनों ही ग्रंथों में आदर्श पुरुषों का वर्णन करते समय यह प्रमुखता से बताया गया है कि उन्हें वेदवेत्ता होना चाहिए। महाभारत में वेदों के संबंध के कुछ उल्लेख निम्नानुसार हैं—

सरस्वतीं च वेदांश्च मनसः संसृजेऽच्युतः ।
वेदानां मातरं पश्य मत्स्थां देवीं सरस्वतीम् ।।

—भीष्मपर्व ३०-१९ व शान्तिपर्व १२९-२०

[अच्युत ने मन से सरस्वती व वेदों का निर्माण किया व उन्होंने कहा कि मुझमें स्थित वेदमाता सरस्वती को देखो ।]

हरिवंश में, जो महाभारत का परिशिष्टपर्व माना जाता है, वेदों के संबंध में निम्नानुसार वर्णन प्राप्त है :—

ततोऽसृजद्वै त्रिपदां गायत्रीं वेदमातरम् ।। ११-५
अकरोच्चैव चतुरो वेदान्गायत्रिसंभवान् ।। ११-६
ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञसिद्धये ।। १०-४७

[ब्रह्मदेव ने तब वेदमाता गायत्री का निर्माण किया व गायत्री से चार वेद निर्माण किये । ऋक्, यजु व साम का निर्माण यज्ञों की सिद्धि के लिये किया गया ।]

पौराणिक साहित्य में भी इसी प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं । भागवत पुराण (स्कंध १२) में कहा है—

तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैः प्रभुः ।
ऋग्यजुः सामाऽथर्वाख्यान्वेदान्पूर्वादिभिर्मुखैः ।।

[प्रजापति ने अपने चार मुखों से ॐकार और व्याहृति सहित चार वेद उत्पन्न किये । एकबार जब प्रजापति ध्यानावस्थित थे तब उनके पूर्वादि चारों दिशाओं वाले मुखों से ऋक्, यजु, साम व अथर्व—इन चार वेदों की उत्पत्ति हुई ।]

मार्कण्डेय पुराण, वायुपुराण, विष्णुपुराण इत्यादि अनेक पौराणिक ग्रंथों में भी यही कहा गया है । अन्य पुराणों में वेदों का अलग-अलग वर्णन किया गया है, किंतु भागवतकार कहते हैं कि एक ॐकार का ही भिन्न-भिन्न प्रस्तार वेद हैं । श्रीमद्‌भागवत के नवम स्कंध में वर्णन आया है—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्व वाङ्मयः ।
देवो नारायणो नान्य एकोग्निर्वर्ण एव च ।।
पुरुरवस एवासीत् त्रयी त्रेतामुखे नृप ।
अग्निना प्रजया राजा लोकं गंधर्वमेयिवान् ।।

[प्रारंभ में एक ही वेद ॐकार, एक ही देव नारायण, एक ही अग्नि लौकिकाग्नि व वर्ण भी एक ही था । त्रेतायुग के प्रारंभ में पुरुरवा से तीन वेद उत्पन्न हुए । अग्नि व प्रजा के योग से धन्य होकर वह गंधर्व लोक को गया ।]

पुराणकर्ताओं के सामान ही वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य भी अपने ऋग्वेद के भाष्य में इन शब्दों में अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं—

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वंदे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ।।

अर्थात् वेद जिसका श्वास है व जिसने वेदों से ही अखिल विश्व का निर्माण किया है उस विद्यातीर्थ महेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ । अन्य दर्शनकार भी इसी रूप में वेद संबंधी अपनी पूज्य भावना प्रगट करते दिखाई देते हैं।

"वैदिकं ईश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम् ।" इन शब्दों में न्याय व वैशेषिक दर्शनकारों ने वेदों के संबंध में अपनी निष्ठा व्यक्त की है तथा वेद स्वयंभू व स्वतः सिद्ध हैं, ऐसा सांख्यदर्शनकार कपिल व मीमांसादर्शनकार जैमिनी का मत है । 'शास्त्रयोनित्वात्' तथा 'अतएव च नित्यत्वं' इन सूत्रों के द्वारा ब्रह्मसूत्रकार महर्षि बादरायण ने वेदों के बारे में यही भावना व्यक्त की है । अद्वैत वेदान्त के युगप्रवर्तक आचार्य भगवत्पूज्यपाद श्रीमत्शंकर अपने शारीरिक भाष्य में वेदों के संबंध में अपनी पूज्य भावना व्यक्त करते हुए कहते हैं—

महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेक विद्यास्थानोपबृंहितस्य, प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । न हीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य, सर्वज्ञगुणान्वितस्य, सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात्पुरुषविशेषात् संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽप्यधिकतर विज्ञान इति प्रसिद्धं लोके । किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादि प्रविभागहेतोर्ऋग्वेदाख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्य अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवत् अस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः ।

अर्थात् अनेक विद्याओं का आगार तथा दीपस्तंभ के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने वाले तथा सर्वज्ञ शब्द से ही जिसका वर्णन किया जा सकता है, उस ऋग्वेद सरीखे सर्वश्रेष्ठ शास्त्र का ब्रह्म ही कारण है। ऐसे ऋग्वेद सरीखे सर्वज्ञ गुणों से युक्त शास्त्र की निर्मिति सर्वज्ञ के सिवाय और कर ही कौन सकता है ? जो पुरुष जिनश्रेष्ठ शास्त्रों का निर्माण करता है, वह उनसे निश्चित ही अधिक विद्वान् होता है । जैसे व्याकरणशास्त्र पाणिनि के विशाल ज्ञान का केवल एक छोटा सा भाग है । अनेक शाखा भेदों में विभाजित तथा देव, पशु, पक्षी, मनुष्य, वर्णाश्रम आदि विविध विभागों के कारणरूप ऋग्वेद नामक ज्ञान भंडार की निर्मिति, मनुष्य के श्वासोच्छ्वास के समान सहज रीति से, लीलारूप में जिसने की उस परमेश्वर की श्रेष्ठ ज्ञानसंपन्नता का भला क्या वर्णन किया जाय ।

अतएव च नित्यत्वं' सूत्र के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने वेदों के नित्यत्व के संबंध में जो लिखा है वह भी पतंजलि (नित्या शब्दाः), जैमिनि (नित्यस्तु स्यात् दर्शनस्य परार्थत्वात्), कणाद (तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्), योग (गृणाति वेदद्वारा उपदिशति सत्यानर्थान् स गुरुः), सांख्य (निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्) आदि शास्त्रकारों की परम्परा का निष्कर्ष ही है।

श्रीमच्छंकराचार्य के पश्चात् रामानुज, मध्व, वल्लभ प्रभृति संप्रदायप्रवर्तक आचार्यों ने भी वेदों के संबंध में अपनी यही निष्ठा व्यक्त की है। और तो और, कितने ही आचार्यों ने तो शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध तक कहने में कसर नहीं रखी क्योंकि वे अध्यात्मवाद की दृष्टि से वेदों को कुछ कम दर्जे का लेखा करते थे।

मीमांसक कुमारिलभट्ट वेदों का महत्व बताते हुए अपनी श्रद्धा इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

प्रत्यक्षेणानुमानेन यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विन्दति वेदेन तस्माद्वेदस्य देवता ।
तस्मात्सिद्धेऽपि सामान्ये विशेषो नागमादृते ॥

[आत्मकल्याण के जिन साधनों का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान से नहीं हो सकता, उनका बोध केवल वेदों द्वारा ही संभव है। इस कारण वेदों का महत्व अलौकिक है। सर्वसामान्य रीति से इतर प्रमाणों के द्वारा कोई भी ज्ञान प्राप्त तो हो सकता है, किंतु विशेष ज्ञान बिना वेदों के संभव ही नहीं।]

वेदसंबंधी यह जाज्वल्य निष्ठा की परम्परा भारतीय राष्ट्र में अव्याहत रूप से दृष्टिगोचर होती है। आज का अपना धर्म श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त होने के पश्चात् भी उच्चवर्णीयों के गर्भाधान से लेकर श्मशान तक के समस्त संस्कार वेदमंत्रघटित ही हैं। आज के दैनंदिन पूजापाठादि धार्मिक क्रियाओं का आलम्बन देवमूर्ति, पौराणिक होने पर भी, उसकी पूजा में वेदमंत्रों का विनियोग ही दिखाई देता है। आज कल केवल प्रदर्शन के रूप में होने वाले उपनयन संस्कार में भी गायत्री मंत्र का ही उपदेश दिया जाता है। पौराणिक शिव, गणपति आदि की पूजा के समय वैदिक ब्रह्मणस्पति व रुद्र देवता के मंत्रों का ही प्रयोग होता है। यही नहीं, पुरुषसूक्तादि सूक्तों का भी धार्मिक जीवन में प्रभाव दिखाई देता है। केवल नामस्मरण से ही मुक्ति का मार्ग सर्वसामान्य लोगों को उपलब्ध करा देने वाले व 'यारे यारे लहाद थोर' (छोटे बड़े सभी आओ) कहकर सबका आह्वान करते हुए, 'मुखीं नाम हातीं मोक्ष। ऐसी साक्ष बहुतांची ॥' (मुख में नाम कर में मोक्ष, ऐसी बहुतों की साक्ष) का प्रतिपादन करने वाले वारकरी संप्रदाय के प्रवर्तक श्री ज्ञानेश्वर महाराज जिन शब्दों में वेदों के संबंध में अपनी निष्ठा व्यक्त करते हैं वह देखने योग्य है। भावार्थ दीपिका में वे कहते हैं—

जो जगीं समान सुकृपु । हिता हित दाविता दीपु ।
तो असान्य केला बापू । वेदू जेणें ।। १६-४४६

एवं परत्र ना स्वर्गु । ना ऐहिक ही विषय भोगु ।
तेथ केउता प्रसंगु । मोक्षाचा तो ।। १६-६५३

या कारणें पै बापा । जया आथी आपुली कृपा ।
तेणें वेदांचिया निरोपा । आन न कीजे ।। १६-४५५

पतीचिया मता । अनुसरोनि पतिव्रता ।
अनायासे आत्महिता । भेटेचि ते ।।

तैसा अशेषां ही पुरुषार्थां । जो गोसावी होम्हणे पार्था ।
तेणें श्रुतिस्मृति माथा । बैसणें धापे ।।

शास्त्र म्हणेल ते सांडावे । ते राज्य ही तृण मानावे ।
जे घेववी तें न म्हणावे । विषय ही विरूं ।।

ऐसिया वेदैकनिष्ठा । जालिया जरी सुभटा ।
तारिकें आहे अनिष्टा । भेटणें गा ।।

पैं अहितापासूनि काढिती । हित देऊनी वाढविती ।
नाहीं गा श्रुती परौती । माऊली जगा ।।

म्हणौनि ब्रह्मेसी मेलवी । तंव हे कोणे न सांडावी ।
अगा तुवांही ऐसीचि भजावी । विशेषेंसी ।। १६-४६३ज्ञा.

अर्थात् सब पर समान कृपादृष्टि रखने वाले तथा सबको हिताहित का स्पष्ट दर्शन कराने वाले दीपसदृश वेदों की जो उपेक्षा करता है, उसे न तो परलोक का स्वर्गभोग ही प्राप्त होता है और न इस लोक का विषयभोग ही, फिर मोक्ष प्राप्ति की तो बात ही व्यर्थ है। इसलिए हे अर्जुन, जिस-जिस को अपने आप पर दया आई हो व आत्महितसाधन की जिसके अन्तःकरण में इच्छा जागृत हुई हो, उसे वेदवचनों का कभी भी अनादर नहीं करना चाहिए। पति के मतानुसार आचरण करने वाली पतिव्रता जिस प्रकार अनायास ही अपना कल्याण-साधन कर लेती है, उसी प्रकार चारों पुरुषार्थों का स्वामी होने की इच्छा रखने वाले को श्रुति-स्मृतियों को शिरोधार्य करना चाहिए। शास्त्रों ने जिसका निषेध किया है, फिर वह राज्य ही क्यों न हो, उसका तृणवत् परित्याग कर देना चाहिए तथा जिसे शास्त्रों ने ग्राह्य समझा है, वह विष भी हो तो उसे घातक नहीं समझना चाहिए। हे वीर अर्जुन, वेदशास्त्रों पर ऐसी अचल निष्ठा होने पर क्या कभी अनिष्ट संभव हो सकता है? अकल्याण से मुक्ति दिलाने वाली तथा कल्याण साधकर कल्याण की वृद्धि करने वाली इस श्रुतिरूपी माता से बढ़कर जगत् में अन्य कोई नहीं है।

श्रौर इसलिए जीव को ब्रह्मस्वरूप तक पहुँचाने वाली इस श्रुतिरूपी माता को कोई भी न छोड़े। प्रिय अर्जुन, तू इसकी विशेष रूप से सेवा किया कर।

श्री ज्ञानेश्वर महाराज के नामभक्ति के संदेश को जगत् में प्रतिष्ठापित करने के लिए अग्रेसर हुए श्री तुकाराम महाराज ने अपने उन कर्मठ विरोधियों के प्रति, जो उस संदेश को वैदिक कर्मकांड का विरोधी बताते थे, जो उद्‌गार कहे हैं वे ध्यान देने योग्य हैं। वे कहते हैं—

वेदांचा अर्थ आम्हासीच ठावा।
येरानी वहावा भार माथा॥

"वेदों का वास्तविक अर्थ तो हमें ही ज्ञात है; अन्य लोग तो केवल बोझा ढोते हैं।"

इन उद्‌गारों में जहाँ उनका आत्मविश्वास व्यक्त होता है, वहाँ उनके चारों ओर के समाज की उत्कट वेदनिष्ठा भी व्यक्त होती है। उनकी शिष्या बहिणाबाई ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—

वेदासीं विरुद्ध नव्हे आत्मज्ञानी। पडला तो पतनी रौरवाँचे।
ऐसे ते चाँडाल न पडावे दृष्टी। ज्याने हे कष्टी उभयकूल॥
वेदासि विरुद्ध असता सर्वथा। अनर्थ परमार्थाहाचि एक।
बहेणी म्हणे त्याछें जलो आत्मज्ञान। जेणें नारायण कष्टी केला॥

[वेदों के विरुद्ध रहने वाला व्यक्ति आत्मज्ञानी नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति रौरवनरक में जायगा। ऐसे चाँडाल कभी आँखों के सामने न आयें, क्योंकि उससे दोनों ही कुलों (मातृकुल, पितृकुल) को कष्ट होगा। परमार्थ के मार्ग में यदि कोई अनर्थ है तो वह है वेदों का विरोध करना। वेद विरोधी को यदि थोड़ा बहुत आत्मज्ञान प्राप्त भी हो जाय तो वह नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह वेदों का विरोध करके नारायण को कष्ट देता है।]

सश्रद्ध अंतःकरणों में ऋग्वेद से लेकर श्री तुकाराम महाराज के काल तक वेदों के संबंध में दृष्टिगोचर होने वाली यह अव्यावहत व एकसूत्र धारणा वास्तव में अत्यंत आश्चर्यजनक है। वेदों द्वारा वास्तविक आत्मकल्याण नहीं हो सकता, ऐसा प्रतिपादित करने वाले बुद्ध ने भी वेदों को झूठा नहीं कहा है; यह ध्यान देने योग्य है। जैन संप्रदायवादी अपने धर्म को भिन्न बतलाते हैं, परन्तु उनके ग्रंथों में भी, 'वास्तविक वेदों का लोप हो गया है, वह अन्यों की समझ में नहीं आ सकता, केवल हम ही समझ सकते हैं', इत्यादि जो परस्पर विरुद्ध विधान प्राप्त होते हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों ने इन नास्तिक दर्शनकारों के अंतःकरण पर कितना प्रभाव जमाया था। वेद निष्ठा तो मानों इस राष्ट्र के घटकत्व का लक्षण ही बन गई है। इस कारण

नव भारत के श्रेष्ठ मंत्रद्रष्टा लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने हिंदु की निम्नलिखित व्याख्या की है—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता ।
उपास्यानामनियमः एतद्धर्मस्य लक्षणम् ।।

धर्ममेनं समालम्ब्य विधिभिः संस्कृतस्तु यः ।
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तैः क्रमप्राप्तेरथापि वा ।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
शास्त्रोक्ताचारशीलश्च स वै हिन्दुः सनातनः ।।

अर्थात् (१) वेदप्रामाण्य, (२) साधनों की अनेकता (मोक्षप्राप्ति के ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि मार्ग) व (३) उपास्यसंबंधी स्वतंत्रता हिंदु धर्म के लक्षण हैं। इस धर्म को पालते हुए श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त या परम्परा-प्राप्त विधि से संस्कार पाया हुआ, श्रद्धालु, स्वकर्मतत्पर तथा शास्त्रों में वर्णित आचार पालने वाला व्यक्ति हिंदु कहलाता है।"

राष्ट्रजीवन के मंदिर का नये सिरे से निर्माण करते समय उसकी इस आधारशिला का स्वरूप समझ लेना कितना आवश्यक है, यह इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।

———

२

वेदाभ्यास की आधुनिक पद्धति

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक का इतिहास में दृष्टिगोचर होने वाला यह विलक्षण एकात्म प्रवाह वास्तव में आश्चर्य जनक है। धार्मिक सहिष्णुता की चरम सीमा प्राप्त करने वाले इस देश में कभी भी तलवार के भरोसे श्रद्धा व निष्ठा को टिकाये रखने का प्रयास नहीं हुआ। 'पृथ्वी गोल है' ऐसा मत रखने के कारण यातनामय दण्ड देना, अपने धर्मग्रंथों का महत्व कम न हो जाय इस कारण ग्रंथालय जला देना, शांति स्थापना के नाम पर सहस्त्रावधि लोगों को मौत के घाट उतारना व धधकती हुई अग्नि में फेंक देना तथा धर्म के नाम पर मानवी मस्तकों का पहाड़ रचकर रक्त की नदियाँ बहाना आदि सारे ही कृत्य मुसलमानी, ईसाई व अन्य धर्मों के इतिहास में भरपूर प्रमाण में उपलब्ध होते हैं। जगत् के सब धर्मों में केवल हिंदु धर्म ही ऐसा है जिसने सबको मत-स्वातंत्र्य प्रदान किया है तथा केवल मतभिन्नता के कारण ही न तो कभी किसी को अग्नि में डाला और न ही किसी के प्राण लेने का प्रयास किया। "त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः" अर्थात् वेदों के कर्ता झूठे, धूर्त व निशाचर हैं, ऐसा कहने वाले चार्वाक को भी इस भरतभूमि में माधवाचार्य सरीखे श्रेष्ठ पुरुषों ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रंथ में दर्शनकार का स्थान दिया है, यह बात जगत् के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य है। यह समझना नितान्त अनुचित होगा कि ऐसे इस मत-स्वातंत्र्यवादी राष्ट्र के सहस्त्रावधि वर्षों से वेदों के संबंध में निष्ठा रखने वाले लोग बुद्धिहीन थे। डॉ० मूर (Dr. Muir) सरीखे पाश्चात्य लेखकों ने व लोकमान्य तिलक सरीखे प्रज्ञावंतों ने जिन लोगों की बुद्धिमत्ता के संबंध में ऐसे उद्‌गार निकाले हैं यथा—

One who reads the discussions of these writers cannot fail to be struck "with the acuteness of their reasoning, the logical precision with which their arguments are presented, and the occasional liveliness and ingenuity of their illustrations."

—The Arctic Home In The Vedas pp.449

(इन दर्शनकारों के साहित्य को पढ़ने वाला उनके असामान्य बुद्धिवैभव, तर्ककर्कश विवेचनपद्धति, उदाहरण देने की योग्यता, सूक्ष्म बुद्धि तथा प्रासं-

गिक सजीवता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता ।) उन लोगों की यह जाज्वल्य निष्ठा अंधश्रद्धा व अज्ञान से उत्पन्न नहीं हुई है, यह स्पष्ट है। बुद्ध, महावीर, चक्रधर आदि पाखंडी समझे जाने वाले तथा चार्वाकादि व्यक्ति-सुखवादी प्रवृत्ति के लोगों को भी, किसी को अवतार तो किसी को दर्शनकार कहकर जिसने उदार सहिष्णुतापूर्वक अपने राष्ट्रजीवन में स्थान दिया है, उस मतस्वातंत्र्यवादी राष्ट्र में राजर्षि मनु, महामुनि पतंजलि, भगवान् शबरस्वामी, जैमिनि, बादरायण, याज्ञवल्क्य, श्रीमदाद्यशंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्व व माधवाचार्य से लेकर महर्षि अण्णासाहेब पटवर्धन, लोकमान्य तिलक व योगीन्द्र अरविन्द घोष तक के कुशाग्र प्रतिभावन्तों की सहस्त्रावधि वर्षों की अक्षुण्ण परम्परा ने जिन वेदों को अपौरुषेय व देववाणी कहकर उनके प्रति अपनी उत्कट श्रद्धांजलि अर्पित की है; उन वेदों का प्रभाव व महत्व वादातीत है, इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं ।

वेद एक हैं या अनेक

आजकल की ऐतिहासिक पद्धति के अनुसार वेद एक है या अनेक, यह एक विवादास्पद प्रश्न बना हुआ है। पाश्चात्य अन्वेषकों में यह कल्पना रूढ़ हो गई है कि वेदों की उत्पत्ति ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद—इस क्रम से एक के बाद एक हुई तथा इनमें ऋग्वेद ही सबसे प्राचीन है। ऋग्वेद में भी वे पहले व दसवें मंडल को बाकी की अपेक्षा अधिक अर्वाचीन मानते हैं। परन्तु प्राचीन भारतीय मान्यता के अनुसार तो वेद एक ही है। कुछ विशेष कारणों से महर्षि वेदव्यास ने उसके चार भाग किये ऐसा पुराणों में वर्णन है। शुक्ल यजुर्वेद के भाष्यकारों ने वेदों के संबंध में निम्नानुसार विधान किया है—

तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान्विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैलवैशम्पायन-जैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश ।

"मनुष्य मन्दमति होता जा रहा है यह देखकर उस ब्रह्मा की प्रेरणा से वेदव्यास ने ब्रह्मपरम्परा से प्राप्त वेद के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद नामक चार विभाग किये व क्रमानुसार पैल, वैशम्पायन, जैमिनि व सुमंतु नामक चार शिष्यों को प्रदान किये।" पुराणों में इस आशय के जो नाना प्रकार के उद्गार प्राप्त होते हैं उनके मूल में भाष्यकारों का यह उपर्युक्त कथन ही है। भागवतादि पुराणों में इसी प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं—

चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ॥
व्यदधाद्यज्ञसंतत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥

—श्रीमद्भागवत १-४, १४, १९, २०

''व्यास ने यज्ञ में व्यवस्था की दृष्टि से एक ही वेद के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद नामक चार भाग किये।'' गत व्याख्यान में भी एक उल्लेख आया है कि एक ही ॐ कार से भिन्न भिन्न वेदों की उत्पत्ति हुई, जिससे स्पष्ट है कि प्राचीन धारणा भी वेदों को एक मानने की ही थी। परन्तु आज कल वेदों का पौर्वापौर्व्य निश्चित कर इस प्रकार की कल्पनाओं का मंडन किया जाता है कि अमुक वेद पहले का है व अमुक बाद का, जिसके कारण प्रत्यक्ष वैदिक लोगों में भी श्रेष्ठ-कनिष्ठत्व की भावनायें रूढ़ हुई दिखाई देती हैं। परन्तु भारतीय मान्यता तो यही है कि एक ही प्रणव रूपी बीज से वेद उत्पन्न हुआ तथा वेदव्यास ने कुछ शास्त्रीय तत्वों का अनुसरण कर उसके चार भाग किये। ऋग्वेद की क्रियाशक्ति, यजुर्वेद की इच्छाशक्ति, सामवेद की ज्ञान-शक्ति व अथर्ववेद के क्षुद्रकर्म—ये चारों ही शक्तियाँ मनुष्यमात्र के लिए आवश्यक हैं। अतः किसी एक वेद को दूसरे से पूर्णरूप से अलग नहीं किया जा सकता। वैदिक साहित्य का आधुनिक पद्धति से अभ्यास करने का यदि हम निश्चय करें तो 'वेद अनेक हैं' इस कल्पना के स्थान पर 'वेद एक है' इस धारणा के अनुसार ही उनका अध्ययन करना पड़ेगा। वेदों का आधुनिक पद्धति से अध्ययन कर उसके सहारे इतिहास लिखने वाले डॉ० केतकर जैसे व्यक्ति ने भी ऐसा ही मत प्रगट किया है। वे कहते हैं कि—

''वेदों का अभ्यास करते समय सूक्तों के कालभेद की ओर दुर्लक्ष कर समस्त वेदों को एक ग्रन्थ मानकर चलने से ही हम थोड़ा बहुत ऐतिहासिक अध्ययन कर सकते हैं। जब हमारे लिए यही आवश्यक नहीं कि हम वेदांतर्गत काल का पौर्वापौर्व्य देखें तब सूक्तों के काल की अनिश्चिति हमारे लिए बाधक नहीं हो सकती। अनुसन्धानकर्ताओं का यह मत हमें मान्य नहीं है कि मंत्रभाग के संहितीकरण के पश्चात् ब्राह्मण भाग का जन्म हुआ। हमारा कहना यह है कि ब्राह्मण-रचना व संहितीकरण की क्रियाएँ दोनों समकालीन व अन्योन्याश्रयी हैं। तैत्तिरीय, कठ आदि संहितायें मंत्रब्राह्मण मिश्रित हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण भी मंत्रमिश्रित है। संहिता बनाने के प्रयोजन पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है कि संहिता व ब्राह्मणग्रन्थों की जोड़ी प्रायः एक ही काल में तैयार हुई होगी। अनेक मंत्र ब्राह्मणकालीन भी होंगे। मंत्र व ब्राह्मण-ग्रन्थों के भिन्नत्व को सिद्ध करने के लिए भाषा का प्रमाण भी नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उत्तरकाल में भी प्राचीन भाषा में काव्य रचे जा सकते हैं; और जब उत्तरकालीन काव्य में प्राचीन काल के काव्य के शब्द पुनरुक्त होते हैं तब तो भाषा का प्रमाण संदिग्ध ही सिद्ध होता है। विशेषतः अध्वर्यु के लिए लिखे जाने वाले मंत्र तो प्राचीन भाषा में ही लिखे जाते हैं।''[1]

---

१. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश—भाग-२ पृष्ठ २००

आज वेदों की चारों संहिताऐं अलग अलग दिखाई देती है व इस कारण वेदों का पद्धतियुक्त अभ्यास न करने वालों की यह धारणा है कि वे परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं। परन्तु चारों ही वेद संहिताऐं परस्पर सापेक्ष हैं तथा इन चारों संहिताओं का उपयोग एक ही क्रिया के लिए होता है। परस्पर सापेक्ष व एक दूसरे पर अवलम्वित इन संहिताओं को भिन्न भिन्न समझने की जो गलती की जाती है उसका मुख्य कारण यह है कि लोग इन संहिताओं के प्रयोजन को नहीं समझते और न ही वे दूसरों की सहायता से उसे समझ लेने का प्रयास ही करते हैं। वेदों की चारों संहिताएँ यज्ञ क्रिया के निमित्त तैयार की गई हैं। उनमें से ऋग्वेद में देवताओं के स्तुति सम्वन्धी सूक्त यज्ञ में काम करने वाले एक विशेष ऋत्विज के लिए पृथक्रूप से संग्रहीत किये गए हैं। उसी प्रकार यजुर्वेद, सामवेद आदि नामों वाले संग्रह भी भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिए बनाये गए हैं। वेदों के सम्बन्ध में लिखने वाले व उनका महत्व वर्णन करने वाले सभी भारतीय पुराणकर्ताओं व स्मृतिकारों ने यह बात मुक्त कंठ से कही है कि वेद यज्ञ के लिए है। ऐतिहासिक पद्धति से वेदों का अर्थ करते समय भी इस सत्य को तो मानना ही पड़ेगा कि यज्ञ नामक क्रिया के लिए ही वेदों का संहितीकरण हुआ है। अन्यथा ऋग्वेद के मंत्रों को ही गायन की पद्धति से कहने का निश्चय कर लिया जाय तो स्वतन्त्र सामवेद संहिता की रचना की आवश्यकता ही नहीं रहती। यज्ञसंस्था के स्वरूप को समझे बिना इन बातों की योग्य कल्पना आना सम्भव नहीं कि एक वेद के चार वेद कैसे हुए, उनके सम्वन्ध आपस में एक दूसरे से कैसे गुँथे हुए हैं तथा उन्हें एक दूसरे से पूर्णरूप से भिन्न समझना क्यों गलत है ? वेद संहिताओं का विवेचन करते समय पाश्चात्यों ने तथा उनके पदचिह्नों का अनुसरण करने वाले आधुनिक भारतीय अन्वेषकों ने वेद व यज्ञ को एक दूसरे से अलग समझने में कैसी भूल की है इसका डॉ० केतकर ने बड़े ही मार्मिक ढंग से विवेचन किया है। वे कहते हैं—

"संस्कृत ग्रन्थकारों ने बारम्बार यह व्यक्त किया है कि वेदकालीन स्थिति को समझने के लिये यज्ञसंस्था का ज्ञान होना आवश्यक है। इतना होने पर भी अभी तक लोगों का ध्यान यज्ञाभ्यासपूर्वक वेदाध्ययन की ओर उतना नहीं गया है जितना कि जाना चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों को यज्ञविषयक साहित्य पढ़कर एक प्रकार की जुगुप्सा उत्पन्न हो गई है तथा उस साहित्य में उनकी बुद्धि को ग्राह्य न होने वाली बातों को देखकर वे चिढ़ गये हैं। हमारे यहाँ के विद्वानों का पांडित्य भी अधिकांशतः पाश्चात्य विचार संप्रदाय का अनुकरण मात्र होने से तथा यज्ञसंस्था के अभ्यास की कठिनाई के कारण हमारे यहाँ के लोगों ने भी इसका योग्य विचार नहीं किया है। यह बात नहीं है कि ब्राह्मणों ने यज्ञसंस्था की वृद्धि केवल अपने

महत्व के लिए की हो। जो धर्म सर्वसामान्य थे उनमें ब्राह्मणों को अपनी स्वेच्छा से बदल करना सम्भव नहीं था। यज्ञ संस्था त्रैवर्णिकों की थी। सर्ववर्ण अत्यंत प्राचीन काल से यज्ञ करते आ रहे थे। यदि ब्राह्मणों ने उपासना में केवल लोभमूलक परिर्वन किये होते तो बाकी के वर्णों ने उनका विरोध किया होता। प्राचीन उपासना में यदि ब्राह्मणों ने अपने अधिकार की चीजों को केवल अपने स्वार्थ के लिये ही नियोजित किया होता तो उसके लिए बाकी की जनता की कोई विशेष सहानुभूति उन्हें प्राप्त न होती। ब्राह्मणों ने यदि यज्ञसंस्था की वृद्धि केवल दूसरों को छलने के लिए ही की होती तो वे स्वयं न छले गये होते। परन्तु बात उल्टी ही दिखाई देती है। यज्ञ करने वाले लोग, अर्थात् यज्ञ के यजमान, अब्राह्मण ही अधिक होते थे पुरोहित वर्ग द्वारा निर्मित इस अनावश्यक बोझ को वे भला सिर पर क्यों लेते? क्षत्रिय वर्ग ने यज्ञ का विरोध करने के स्थान पर यज्ञ करने में उत्सुकता दिखाई है। अतः यज्ञसंस्था को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसका अध्ययन करते समय हम बुद्धि में इस प्रकार की विकृति उत्पन्न न होने दें कि ब्राह्मणों ने केवल स्वार्थ के लिए ही इस संस्था को बढ़ाया। यज्ञ संस्था के इतिहास की ओर दुर्लक्ष करने से जो दो इतिहास पाश्चात्यों को यत्किंचित् भी समझ में नहीं आये हैं वे हैं, सामाजिक इतिहास व संहितीकरण का इतिहास।"[1]

डॉ० केतकर के उपर्युक्त कथन को पुष्टि की आवश्यकता नहीं है। यज्ञों के राष्ट्रीय महत्व के कारण जिन ऋत्विजों को राष्ट्रजीवन में एक विशेष स्थान प्राप्त हुआ था, उन्हें अपने स्वयं के लिए स्वतंत्र अभ्यासग्रन्थों की आवश्यकता थी, इस कारण वेदों का संहितीकरण किया गया। इस स्थूल कारण पर भी यदि हम ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वेदों में संस्कृति व राष्ट्र का दर्शन करते समय 'वेद एक है', इस भावना से ही सकल वैदिक साहित्य का हमें अध्ययन करना होगा और इसी कारण व्याख्यानमाला का विषय हेतुपुरस्सर 'वैदिक राष्ट्रदर्शन' ही रखा गया है।

यह पहले ही बताया गया है कि भारतीय राष्ट्र की अस्मिता का मूल व उसका सिद्धस्वरूप वेदों में प्राप्त होने के कारण अपनी राष्ट्रीय आत्मा का दर्शन करने के लिए तथा नई परिस्थिति में अपने जीवन मंदिर के निर्माण के लिए आधार-शिला के रूप में वैदिक साहित्य की ओर देखना आवश्यक है। परन्तु वेदों में हमें जिस राष्ट्र जीवन का दर्शन होता है वह कितना प्राचीन है यह पहले देखना चाहिए, क्योंकि उससे हमें ज्ञान हो सकेगा कि हमारे राष्ट्र की परम्परा का मूल किस कालखंड तक जाकर पहुँचता है।

---

१. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश भाग-२ पृष्ठ १९५-९६

वेदों का जो काल निश्चित होगा, उसके भी पूर्व के काल में यह मूल निहित है, ऐसा हम कह सकेंगे। परन्तु क्या वेदों का काल निश्चित करना संभव है ? प्राचीन काल में कभी भी वेदों के कालनिर्णय का प्रयास नहीं हुआ, परन्तु अर्वाचीन काल में वेबर, मेक्समुल्लर, लोकमान्य तिलक, डॉ० अविनाश चंन्द्र दास, डॉ० विन्टरनिट्ज, श्री पावगी 'अप्रबुद्ध' प्रभृति अनेक प्रथम श्रेणी के विद्वानों ने भिन्न-भिन्न शास्त्रों के आधार पर इस दृष्टि से अतिशय मूलगामी प्रयत्न किये हैं। परंन्तु क्या ये विद्वान् भी वेदों का काल निर्णय कर सकने में सफल हो सके हैं ?

वेद काल निर्णय

भारतीयों की प्राचीन धारणा के अनुसार वेद अनादि व अनंत हैं तथा सृष्टि के प्रारंभ में ही उनकी उत्पत्ति होकर, उनसे फिर समस्त सृष्टि की निर्मिति होने के कारण उनके काल निर्णय का प्रयास उन की दृष्टि में निरा पागलपन है। गत व्याख्यान में वेदों का महत्व बताने वाले प्राचीन ग्रंथकारों के जो अनेक उद्धरण दिये गये हैं, उनसे उन लोगों की एतत् संबंधी धारणा स्पष्टतया ध्यान में आ सकती है। परमेश्वर के समान ही वेद समस्त सृष्टि के घटकद्रव्य हैं, यह एकबारगी मान लेने पर सूर्यमंडल या इलेक्ट्रोन्स का कालनिर्णय करने के समान ही वेदों का कालनिर्णय करना भी हास्यास्पद हो जाता है। इस पर यदि कोई यह कहे कि चूंकि वेद अक्षर हैं, इस कारण कभी न कभी इन की उत्पत्ति अवश्य ही हुई होगी और चूंकि वेदों में ऋषियों के नाम प्राप्त होते हैं, इस कारण वे ही उनके कर्ता भी होंगे, तो इसके लिये भी प्राचीन लोगों ने पहले से ही उत्तर खोज रखा है। महाभारतकार कहते हैं—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ।। (शान्तिपर्व)

"युगप्रलय के समय इतिहास सहित गुप्त हुए वेद तपस्या व ब्रह्मदेव की कृपा से पुनः ऋषियों को प्राप्त हुए।" महाभारतकार की इस धारणा का शास्त्रीय साहित्य में तो दर्शन होता ही है परन्तु भवभूति सरीखे नाटककार की ललित रचनाओं में भी उसका आविष्कार दिखाई देता है। इससे इस धारणा की सर्वव्यापकता सहज ध्यान में आ जाती है। उत्तररामचरित में भवभूति कहते हैं—

ब्रह्मर्षयो ब्रह्महिताय तप्त्वा परः सहस्राः शरदस्तपांसि ।
एनान्यपश्यन् गुरवः पुराणाः स्वान्येव तेजांसि तपोमयनि ।।

"ब्रह्मर्षियों ने ब्रह्महित के लिए सहस्रावधि वर्षों तक तपस्या कर अपनी तपश्चर्या से इस वेद रूपी तेज को देखा।"

परन्तु प्राचीन धारणा कुछ भी क्यों न रही हो अर्वाचीन लोगों ने तो वेद काल निर्णय का प्रयास किया ही है। और उन प्रयासों का परिशीलन करना पर्याप्त मनोरंजक सिद्ध होगा।

स्वामी दयानन्द

अर्वाचीन भारत में जिन श्रेष्ठ पुरुषों ने वेदों के संबंध में निष्ठा उत्पन्न करने का कार्य किया उनमें महर्षि दयानन्द सरस्वती अतिशय प्रभावी व असामान्य व्यक्तिमत्ता के पुरुष थे। उन्होंने संपूर्ण उत्तर भारत व विशेषतः पंजाबप्रान्त में वेदों के संबंध में विलक्षण निष्ठा उत्पन्न की है। उन्होंने संकल्पमंत्रों में की गई कालगणना के अनुसार वेदों का काल १, ९६, ०८, ५२, ९७६ वर्ष निश्चित किया है व ऐतिहासिक दृष्टि से काल निर्णय करने वालों को 'धर्मभ्रष्ट', 'नास्तिक' आदि विशेषणों से विभूषित किया है। किंतु वे श्रद्धालु थे इस कारण यदि उनकी बात छोड़ दें, तो हम देखते हैं कि वेद-काल निर्णय का उल्लेखनीय प्रयास पाश्चात्यों द्वारा हुआ है व भारतीयों ने उनसे स्फूर्ति ग्रहण कर उनके उस प्रयत्न को आगे चलाया है। भाषाशास्त्र, भूस्तरशास्त्र, इतिहासशास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र, नाणकशास्त्र, वंशशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों की सहायता से अनुसंधानकर्ताओं ने वेदकालनिर्णय व वेदों के संबंध में अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। ऐसा प्रयत्न करने वालों में भारतीय साहित्य पर लिखने वाले वेबर नाम के लेखक ने अपना यह स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि वेदों का काल निश्चित करना असंभव है।

भाषा शास्त्र का आधार

कालनिर्णय करने का पहला उल्लेखनीय प्रयत्न भट्ट मोक्षमुल्लर के नाम से भारत में विख्यात होने वाले मेक्समुल्लर साहब ने भाषाशास्त्र के आधार पर किया। मेक्समुल्लर साहब के मतानुसार बुद्धसंप्रदाय ब्राह्मणधर्म के विरुद्ध आन्दोलन के रूप में उत्पन्न हुआ। इस कारण सूक्त, ब्राह्मण, आरण्यक व उप-निषद् इन नामों से प्रसिद्ध वैदिक साहित्य बुद्धपूर्वकालीन, याने ईसा से ५०० वर्ष पूर्व निर्मित हुआ होना चाहिए। प्रत्येक खंड को उन्होंने दो सौ वर्षों की कालमर्यादा दी है। उनका कहना है कि ब्राह्मण साहित्य में संहिता साहित्य गृहीत है। उसकी रचना को ईसा के पूर्व हजार से आठ सौ वर्षों तक का काल लगा होगा। अतः इसे सूक्तों का निर्माण काल कहने में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु इस काल के पहले से ही इन सूक्तों ने पवित्रता प्राप्त कर ली थी। इस कारण उनका उदय एक हजार के और दो सौ वर्ष पूर्व हुआ समझना चाहिए। परन्तु मंत्र अथवा सूक्तों के उदयकाल को ईसापूर्व १२०० वर्षों का मानते समय २०० वर्षों का उपयोग केवल प्रयोग के नाते ही किया गया है। मेक्समुल्लर स्वतः कहते हैं—

"As an experiment, therefore, though as no more than an

experiment, we propose to fix years six hundred to twelve hundred B.C. as the limits of that age."

मेक्समुल्लर के टीकाकार का कहना है कि केवल प्रयोग के नाते मेक्समुल्लर ने जो यह ईसा पूर्व १२०० वर्षों की संख्या निश्चित की है वह उसके ऊपर बाइबिल के उस सिद्धान्त की छाप के कारण है जिसके अनुसार जगत् की उत्पत्ति ईसा के ४००० वर्ष पहले मानी गई है। बी० सी० गोल्ड्स्टकर द्वारा की गई उसकी टीका यहाँ देखने योग्य है। वह कहता है—

"But is twelve hundred B.C. a primary age of the world except in Biblical Geography ?"

(बाइबिल के भूगोल के अतिरिक्त कहीं और भी जगत् का आरम्भ ईसा पूर्व १२०० वर्ष का माना गया है क्या ?)

मेक्समुल्लर द्वारा वैदिक साहित्य के भिन्न-भिन्न विभाग कर उन्हें दी हुई २०० वर्षों की अवधि केवल अनुमान पर आधारित है। परन्तु मेक्समुल्लर के द्वारा बार-बार यह स्वीकार किये जाने पर भी कि यह उसकी केवल सहज कल्पनामात्र है, उसके बाद के अनुसन्धानकर्ताओं व इतिहास लेखकों ने केवल उसका नाम देखकर ही उसकी इस कोरी कल्पना को शास्त्रीय सत्य का स्वरूप दे दिया है। व्हिटने व डॉ० विंटरनिट्ज ने इस निरी कल्पना को शास्त्रीय स्वरूप देने का प्रयत्न करने वालों के बुद्धि के खोखलेपन की तीव्र भर्त्सना की है तथा उस पर टीका भी की है। 'मेक्समुल्लर ने वेदों का काल निश्चित किया' यह विधान ही इस बात का अच्छा उदाहरण है कि कैसे किसी कल्पना को शास्त्रीय अनुसन्धान व प्रमाण के बिना सिद्धान्त का स्वरूप प्राप्त हो जाता है। डॉ० केतकर कहते हैं—

"अब तक 'शास्त्रीय सिद्धान्त', 'शास्त्रीय सिद्धान्त' कहकर यत्नपूर्वक पोसा गया सिद्धान्त कौन से शुष्क आधार पर अवस्थित था, इसे ये लोग बिल्कुल भूल गये; यह बड़े आश्चर्य की बात है।"

(महा० ज्ञानकोश भाग-२ पृष्ठ १८७)

मेक्समुल्लर ने भाषा के परिवर्तन का २०० वर्षों का जो कालखंड माना है, उसके लिये कोई प्रमाण नहीं है। इस संबंध में किये जाने वाले अनुमान परस्पर भिन्न हैं। भाषाशास्त्र के इस परिवर्तन के सिद्धान्त के सहारे डॉ० हौ ने प्रत्येक भाग के लिये ५०० वर्षों का काल देकर वेदकाल का आरम्भ ईसापूर्व २४०० से २००० वर्ष के बीच में माना है। भाषा का विकास तथा उसमें होने वाले स्थित्यंतर कितने वर्षों में होते हैं—२०० वर्षों में या ५०० वर्षों में या १००० वर्षों में—यह निश्चित करने के लिये भिन्न-भिन्न लोगों ने जो प्रयत्न किये हैं, उनमें उनकी स्वत: की इच्छा व कल्पना की उड़ानों के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। मेक्समुल्लर के सिद्धान्त की टीका करते

हुए डॉ० विंटरनिट्ज ने भाषा में परिवर्तन होने का काल १००० वर्ष का माना है तथा ज्योतिर्गणित सरीखे महत्वपूर्ण व सबल प्रमाणों के आधार पर वेद काल निर्णय करने वाले लो० तिलक की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि "यदि वेदों को अनन्तकाल पूर्व का माना जाय तो उनमें व अभिजात संस्कृत साहित्य में ब्राह्मणग्रंथों की केवल एक कड़ी ही पर्याप्त नहीं है।" परन्तु भाषा शास्त्र के आधार पर वेदकालनिर्णय करने वाले विंटरनिट्ज से लेकर मेक्स-मुल्लर तक के समस्त लोगों की यह धारणा ही वस्तुतः निर्मूल है कि ऋग्वेद की भाषा अथवा मंत्रों की भाषा परिवर्तन के नियमों से ग्राबद्ध रोज के लौकिक व्यवहार की भाषा है। प्रान्त भेद के कारण अथवा निश्चित कालखंड के पश्चात्, भाषा के परिवर्तन का सिद्धान्त, व्यवहार की भाषा के संबंध में सत्य हो सकता है परन्तु शास्त्रीय व ग्रांथिक भाषा के संबंध में वह पूर्ण रूप से गलत है। अभिजात साहित्य व शास्त्रों की भाषा संस्कृत का गत २५०० वर्षों का अपरिवर्तनीय इतिहास देखने पर उक्त सिद्धान्त अपने आप ही गलत सिद्ध हो जाता है। एक ही काल के दो लेखकों की भाषा में भी किस प्रकार अन्तर पड़ सकता है व भाषा के आधार पर काल निर्णय का प्रयत्न करने पर कैसी विलक्षण विसंगति निर्माण हो सकती है, इसका उत्तम उदाहरण श्री ज्ञानेश्वर महाराज व श्री मुकुन्दराज के साहित्यों के द्वारा प्राप्त होता है। ये दोनों समकालीन होने पर भी मुकुन्द राज अपने ग्रंथ की भाषा के आधार पर नाथ के समकालीन सिद्ध होते हैं और इस तरह ज्ञानेश्वर महाराज का काल उनके कितने ही वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है। इसलिये भाषा का प्रमाण काल-निर्णय की दृष्टि से सदोष व अनिश्चयात्मक होने के कारण त्याज्य समझा जाना चाहिए। गुरुवर्य श्री अप्रबुद्ध का यह प्रतिपादन पूर्ण रूप से सत्य है कि "राष्ट्र की विकसित व सम्पन्न अवस्था में उसकी भाषा को एक निश्चित स्वरूप प्राप्त होता है व वह भाषा ग्रंथों व शास्त्रों की तथा अभिजात व्यवहार की भाषा बन जाती है। और जब तक उस संस्कृति का अस्तित्व रहता है तब तक उस भाषा का स्थान भी अटल रहता है; उसके अटल रहते हुए भी व्यावहारिक भाषा बदलती है। अनेक प्रान्तीय भाषायें एक बड़ी संस्कृति के अंचल में पनप सकती हैं।" श्री बैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने अपने निरुक्त में व्यवस्थित रीति से यह सिद्ध किया है कि ऋग्वेद की भाषा का एक निश्चित व्याकरण है तथा वह एक अभिजात साहित्य की भाषा है। इसके साथ ही यदि हम ऋग्वेदीय भाषा की मंत्रमयता का भी विचार करें तो उसकी अपरिवर्तनीयता स्पष्ट रूप से हमारे ध्यान में आजायगी और हम यह समझ सकेंगे कि भाषा शास्त्र के आधार पर वेदकाल का निर्णय करना क्यों व कैसे असम्भव है। पाश्चात्य अन्वेषकों का भाषा शास्त्र के इस अस्थिर सिद्धान्त पर इतना भरोसा है कि उन्होंने काल-निर्णय ही नहीं वरन् भाषासाम्य के आधार

पर वैदिक आर्यों के मिश्रवंश व उनके द्वारा अनार्यों पर हुए आक्रमणों की उपपत्ति देकर उन्हें सिद्धान्त का रूप दे दिया है। किंतु यह उनका भ्रम है यह डॉ० कीथ के निम्नलिखित उद्‌गारों से स्पष्ट होता है—

"All the Indo-European languages have certain special points in which they agree with one another of the group and to deduce racial mixture or migration from these facts is quite impossible."

(सभी इंडो-यूरोपियन भाषाओं में कुछ विशेष बातें ऐसी हैं जिनमें उनका परस्पर साम्य है किंतु उनके आधार पर वंशों का परस्पर मिश्रण या निष्क्रमण सिद्ध करना सर्वथा असम्भव है।)

भूगर्भशास्त्र का आधार

भूगर्भशास्त्र व इतिहास शास्त्र के बारे में भी वही बात है, जो भाषा शास्त्र के बारे में है। हिमप्रलय दस हजार साल पहले हुआ या अस्सी हजार साल पहले यह निश्चित करने का कोई साधन नहीं है। उपर्युक्त दोनों मतों का प्रतिपादन करने वाले समान रूप से प्रामाणिक हैं। इस कारण भूगर्भ-शास्त्र के जिन प्रमाणों के आधार पर लोकमान्य तिलक अपने 'आर्कटिक होम' में वैदिक संस्कृति का काल ईसापूर्व दस हजार वर्ष का ठहराते हैं; उन्हीं प्रमाणों के आधार पर कोई दूसरा अन्वेषक वेदकाल को और भी सत्तर हजार वर्ष पूर्व का सिद्ध कर सकता है। भूगर्भशास्त्र के सहारे दस हजार वर्ष की कालावधि निश्चित करते समय लोकमान्य ने सत्तर हजार वर्ष की कालावधि क्यों नहीं मानी, इसके लिए उन्होंने भूगर्भशास्त्र का कोई प्रमाण नहीं दिया है। उन्होंने बस इतना ही कहा है कि यह हमें जँचता नहीं। वे कहते हैं—

"But according to some geologists, 20,000 or even 80,000 years have passed since the close of the last glacial epoch; and as the oldest date assigned to the Vedic Hymns does not go beyond 4500 B.C., it may be contended that the traditions of the Ice-age, or of the inter-Glacial home, cannot be supposed to have been accurately preserved by oral transmission for thousands of years that elapsed between the commencement of the post-Glacial era and the oldest date of the Vedic Hymns. It is, therefore, necessary to examine the point a little more closely in this place. In my **Orion or Researches into the Antiquities of the Vedas,** I have shown that while the Taittiriya Samhita and the Brahmanas begin the Nakshatras with Krittika or the Pleiades showing that the vernal equinox then coincided with the aforesaid asterism (2500 B.C.), the Vedic literature contains traces of Mriga or orion being once the first of the

Nakshatras and the hymns of the Rigveda, or at least many of them which are undoubtedly older than Taittiriya Samhita, contain reference to this period, that is, about 4500 B.C. approximately. It is also pointed out that there are faint traces of the same equinox being once in the constellation of Punarvasu, presided over by Aditi, which was possible in about 6000 B.C. I have in my later researches tried to push back this limit by searching for the older zodiacal positions of the vernal equinox in the vedic literature but I have not found any evidence of the same. It will be seen that this estimate well agrees with the conclusions of the American geologists, who from an examination of the erosion of the valleys and similar other well ascertained facts, assign to the close of the last glacial epoch a date not older than 8000 B.C. We might even go further and say the ancient vedic chronology and calender furnish an independent corraboration of the moderate view of the American geologists, and when two independent lines of research unexpectedly lead us to the same conclusion, we may very well reject, at least in the present state of our knowledge, the extravagent speculations of Croll and his followers and adopt the view that the last Glacial epoch closed and the post-Glacial period commenced at about 8000 B.C."

—The Arctic Home in the Vedas. pp 419

(कुछ भूगर्भशास्त्रियों के मतानुसार गत हिमकाल को बीते बीस हजार या अस्सी हजार वर्ष हो गये हैं। किन्तु वेदों का प्राचीनतम काल ईसापूर्व ४५०० वर्षों के पीछे नहीं जाता। ऐसी अवस्था में यह संभव नहीं दिखता कि हिमकाल के अन्त व वैदिक सूक्तों के रचनाकाल के बीच के हजारों वर्षों के कालखंड में हिमान्तरकालीन निवासस्थान का सत्यवृत्त मौखिक परम्परा के द्वारा ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा गया हो। इसलिए इस प्रश्न का अधिक सूक्ष्म विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। 'ओरायन' या वेदकाल निर्णय संबंधी अपनी पुस्तक में मैंने यह बताया है कि तैत्तिरीय संहिता या ब्राह्मणों में नक्षत्रों का कृत्तिका से प्रारंभ किया गया है। इसका अर्थ यह है कि उस नक्षत्र में उस समय वसन्तसंपात था। इस दृष्टि से विचार करने पर संहिताकाल ईसापूर्व २५०० वर्ष का सिद्ध होता है। उसी प्रकार उनसे भी प्राचीन ऋग्वेद के कई वचनों के अनुसार ऋक्सूत्रों की रचना मृगनक्षत्र में वसन्तसम्पात के रहते, अर्थात् ईसापूर्व ४५०० वर्ष की सिद्ध होती है। यह भी बताया गया है कि ऋग्वेद में वसन्त सम्पात के पुनर्वसु में होने तथा अदिति द्वारा अधिष्ठित होने के भी कुछ संकेत प्राप्त होते हैं। यह बात ईसा के लगभग ६००० वर्ष पूर्व संभव हो

सकती है । मैंने अपने बाद के अनुसन्धानों में वसन्तसम्पात की प्राचीनतम राशिचक्रसंबंधी स्थितियों को ढूंढ़कर इस मर्यादा को और आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है। परन्तु इन वसन्तसम्पातों के लिए मुझे कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं हुए। अमेरिकन भूगर्भशास्त्रियों ने घाटियों के कटाव व अन्य सुनिश्चित प्रमाणों के द्वारा हिमकाल को ईसा के लगभग ८००० वर्ष पूर्व का माना है । उनके इस मत से उपर्युक्त मत पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है। प्राचीन वैदिक घटनावलि तथा कालगणना के द्वारा भी स्वतंत्र रीति से उदार अमेरिकन मत की ही पुष्टि होती है। इस तरह हम दो स्वतंत्र मार्गों द्वारा एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। ऐसी स्थिति में हम डॉ० क्रौल व उनके अनुयायियों द्वारा निश्चित की गई बढ़ी-चढ़ी कालमर्यादा को, कम से कम ज्ञान की आज की अवस्था में, परित्यक्त कर सकते हैं तथा गत हिमकाल के अंत व हिमोत्तरकाल के प्रारंभ का समय ईसा के ८००० वर्ष पूर्व का मान सकते हैं।)

लोकमान्य तिलक ने 'उदारमत' के नाम पर जो अमेरिकन शास्त्रज्ञों का मत स्वीकार किया है उसका अर्थ ही यह है कि भूस्तरशास्त्र अथवा भूगर्भशास्त्र निश्चयात्मक व स्वतंत्र रीति से कालनिर्णय के योग्य नहीं हैं । सर राबर्ट पाल, प्रो० गीकी आदि शास्त्रज्ञों द्वारा अनुमोदित डॉ० क्रौल का मत ऐच्छिक कहकर नहीं टाला जा सकता। उन्होंने गणित के दृढ़ आधार पर उसे सिद्ध किया है। हजारों वर्षों के अन्तर के कारण ही यदि उसे ऐच्छिक करना हो तो फिर मेक्समुल्लर भी बाइबिल के भूगोल में वर्णित १२०० वर्षों की कालावधि को गृहीत रखकर अमेरिकनों के मत को ऐच्छिक कह सकता है। ज्योतिर्गणित सरीखे अन्य साधनों के द्वारा निश्चित की कई कालावधि से मेल खाने के कारण ही लोकमान्य तिलक ने अमेरिकन भूगर्भशास्त्रियों का उल्लेख किया है। किंतु मान लीजिए कल किसी अन्य अनुसन्धानकर्ता ने ज्योतिर्गणित के द्वारा लोकमान्य की ओरायन की उपपत्ति को अपूर्ण सिद्ध कर वेदों को हजारों वर्ष पूर्व का ठहराया, और यदि उसने अमेरिकन मत को अग्राह्य समझकर डॉ० क्रौल के मत की सहायता ली तो उसका प्रतिपादन भी लोकमान्य जितना ही शास्त्रीय कहा जा सकेगा। मैं केवल कल्पना से ही ऐसा नही कह रहा हूँ। लोकमान्य के 'ओरायन' का परीक्षण करते हुए श्री दीक्षित ने कहा है कि "वेदकाल में चांद्रमास हुआ करते थे, इसलिए वर्षारंभ चांद्रमास के आरम्भ में होता था यह स्पष्ट है। तब, तैत्तिरीय ब्राह्मण के 'उत्तरयोः फल्गुन्योः आदधीत' इस वाक्य में पूर्वाफाल्गुनी चांद्रमास के अन्त का व उत्तराफाल्गुनी अगले मास के प्रारम्भ का नक्षत्र होना चाहिए।" इस पर टीका करते हुए ओरायन के अनुवादक श्री ओगले ने कहा है कि "पूर्णिमा को जब चंद्र उत्तरा फल्गुनी में रहता है; तब से यदि वर्षारंभ माना जाय तो उस

समय सूर्य उत्तराभाद्रपद के समीप रहेगा। और यदि यह वर्षारंभ वसंतारंभ के समय हो तो वसंतसंपात उत्तराभ्राद्रपद में होगा, याने लगभग आज की ही स्थिति, या अनुमानतः २१००० वर्ष पूर्व की स्थिति उत्पन्न होगी।" तव फिर यदि ज्योतिष के प्रमाणों के आधार पर तैत्तिरीयसंहिता का काल २१००० वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है तो उसे केवल प्राचीन कहकर अमान्य कर देना तर्कशास्त्रसम्मत नहीं कहा जा सकता तथा उसको मान्य करनेवाले यदि डॉ० कौल के भूगर्भशास्त्र पर आधारित मत की सहायता लेकर अपने निर्णय की पुष्टि करें तो उनके निर्णय को ऐच्छिक कहने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। **इससे कोई यह न समझ ले कि मैं लोकमान्य के ध्रुव सिद्धान्त का विरोधी हूँ, इस कारण ही चाहे जो लिख रहा हूँ। उनके ध्रुव सिद्धान्त को मान्य करके भी मेरा कहना इतना ही है कि वेदकाल निर्णय के कार्य में भूगर्भशास्त्र स्वयंभू प्रमाण के नाते अपूर्ण है।** यही बात वंशावलियों के इतिहास द्वारा कालनिर्णय करने के बारे में भी सत्य है। भूगर्भशास्त्र के द्वारा तो कई लोग यह भी प्रतिपादित करते हैं कि उत्तरध्रुव हिंदुस्थान में ही था। परंतु इस शास्त्र के आधार पर जो अनुमान लगाये जाते हैं वे कितने अनिश्चित होते हैं, यह अविनाशचंद्र दास के ग्रंथ से स्पष्ट हो जाता है। श्री दास ने अपनी पुस्तक की प्रथमावृत्ति में एक जगह कहा है कि राजपूताना में साठ हजार वर्ष पहले समुद्र था। उसी पुस्तक की द्वितीयावृत्ति में उन्होंने वही काल २७००० वर्ष का माना है। इस से यह स्पष्ट है कि यह शास्त्र कितना अविश्वसनीय है।

पुराण-वंशावलियों का आधार

पुराणों की वंशावलियों को प्रमाण मानकर उनके आधार पर अनुमान लगाने का डॉ० केतकर ने प्रयत्न किया है। दाशराज्ञ युद्धको मध्यवर्ती कल्पना मानकर उसके चारों ओर उन्होंने ऋग्वेद के इतिहास की रचना की है। परन्तु उनका पुराणों की वंशावलियों को इतिहास की व्यवस्थित वंशावलि समझना ही गलत है। वेदों में शंतनु व देवापि का नाम प्राप्त होने पर वे दोनों एक दूसरे के भाई ही थे, या जन्मेजय का नाम प्राप्त होने पर वह धृतराष्ट्र का पंती था या पूर्वज, अथवा डॉ० केतकर को प्रिय लगने वाले सुदास को ही लें तो वह राम का वंशज था या पूर्वज यह निश्चित करने का कोई साधन नहीं है। इतना ही नहीं, वेदों में सुदास तो व्यक्तिवाचक के साथ साथ गुणवाचक भी है। इस कारण इस संबंध में निश्चित निर्णय लेने से गड़-बड़ियाँ ही उत्पन्न होंगी। अन्य प्रमाणों से यदि वेदों का काल निश्चित किया जा सके तो फिर इन वंशावलियों का भी उपयोग हो सकता है।

ज्योतिर्गणित का आधार

इन सब प्रमाणों की अपेक्षा ज्योतिर्गणित के प्रमाणों को अधिक दृढ़ समझकर लोकमान्य ने उसके आधार पर कालनिर्णय किया व हिमप्रलय

की उपपत्ति के सहारे वेदों के काल को और २००० वर्ष पीछे ढकेला। आकाश में ग्रहनक्षत्रों की स्थिति अधिक निश्चित होने के कारण उनके सहारे किया जाने वाला कालनिर्णय अन्य किन्हीं प्रमाणों के आधार पर किये जाने वाले कालनिर्णय की अपेक्षा अधिक सही होगा व इस कारण अन्य किसी पद्धति की अपेक्षा यह पद्धति अधिक स्वीकार्य है, यह स्पष्ट है। परन्तु इसके सहारे भी कालनिर्णय संभव हो सका है क्या या उसमें भी भूगर्भशास्त्र के समान ही कालखंडों का अंतर पड़ गया है, यह देखना उद्‌बोधक सिद्ध होगा।

इस पद्धति का सर्वप्रथम उपयोग करने का श्रेय लोकमान्य तिलक को ही है। उनके प्रतिपादन का सारांश इस प्रकार है —

"वेदकाल में कालमापन की व्यवस्था कैसी थी ? इसका अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि इसके लिए उस समय चंद्र का वृद्धि-क्षय, ऋतुओं का परिवर्तन , सूर्य के दक्षिणोत्तर अयन आदि साधनों का उपयोग होता होगा। सूर्य की सांवत्सरिक गति के अनुसार सत्र निश्चित किये जाते थे व सत्र का अंत ही संवत्सर का अंत समझा जाता था। इसलिए सत्र ,यज्ञ व संवत्सर समानार्थी शब्द हो गये थे। चांद्र व सौर वर्ष का मिलान करने के लिए अधिक मास की योजना ऋग्वेद के काल की है। उस समय नाक्षत्र वर्षमान था व ऋतुचक्र के साथ मेल रखने के लिए प्राय: प्रत्येक २००० वर्षों के पश्चात् वर्षारंभ बदला करता था। यह वर्षारंभ कब रखा जाता था, इसकी खोज करने पर ऐसा दिखाई देता है कि वैदिक काल में वसंतसंपात में वर्षारंभ होता था। परंन्तु आगे के काल में वह मकर संक्रमण से होने लगा। तैत्तिरीय संहिता व ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होने वाले चार भिन्न-भिन्न वचनों के आधार पर यह स्पष्ट दिखाया जा सकता है कि वसंतसंपात कृत्तिका में हुआ करता था। कृत्तिका नाम के तारकापुंज को वर्ष के आरम्भस्थान में मानने पर तैत्तिरीय संहिता का काल ईसा के २३५० वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है। यदि उदगयन फाल्गुनमास में हो तो वसंतसंपात कृत्तिका के आगे दो नक्षत्र, अर्थात् मृगशीर्ष में होगा। मृगशीर्ष का दूसरा नाम है अग्रहायणी। वैदिक ग्रन्थों में कहा गया है कि अग्रहायणी के मुख थे। तैत्तिरीय संहिता व ब्राह्मण ग्रंथ में वर्णन है 'फाल्गुन पूर्ण मास वर्ष का मुख था'। इस वचन का अर्थ 'उस दिन उत्तरायण था' ऐसा करने पर व मृगशीर्षवाचक अग्रहायण शब्द का वास्तविक अर्थ 'वर्षारंभ करने वाला' मानने पर उन नक्षत्रों में एक समय वसंतसंपात था, यह स्पष्ट सिद्ध होता है। पितृपक्ष के काल के द्वारा भी ऐसा ही दिखाई देता है। ऋग्वेद के पहले मंडल में एक ऋचा है (१, १६१, १३)। उसमें कहा है कि 'एक श्वान ऋतुओं को संवत्सर के अंत में जागृत करता था'। यहाँ ऋतु का अर्थ ऋतु व श्वान का अर्थ 'मृगपुंज के निकट का श्वानपुंज' मानने पर उक्त ऋचा का

यह स्पष्ट अर्थ निकलता है कि तारकापुंज के पास सूर्य के आने पर ऋतु देवता जागृत होता था व नये वर्ष का आरंभ होता था। तात्पर्य, उस समय वसंतसंपात श्वानपुंज के निकट था अर्थात् उत्तरायणारंभ फाल्गुनी पूर्णिमा को होता था व मृगशीर्ष नक्षत्रमाला के आरंभ में था। तैत्तिरीय संहिता व ब्राह्मण में उल्लिखित इस वचन को, कि वसंतसंपात मृगशीर्ष में था, सिद्ध करने के लिये ऋग्वेद का यह स्थान योग्य है। ऐसा ही दूसरा स्थान है वृषाकपी सूक्त (ऋ० १०-८६)। यहाँ वृषाकपी का अर्थ मृगशीर्ष में वसंतसंपात के रहते शरत्संपात में रहने वाला सूर्य माना जाय तो इस सूक्त का अर्थ अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। इस सूक्त में केवल मृगशीर्ष व श्वानपुंज का ही वर्णन नहीं किया गया है, अपितु सूर्य के भूमध्य रेखा के उत्तर व दक्षिण की ओर गमन के समय की स्थिति का भी वर्णन किया गया है। इन घटनाओं से ऋतुओं का संबंध जोड़ देने पर ये बातें कब लिखी गईं, यह निश्चित किया जा सकता है।

"चित्रापूर्णमास में वर्षारंभ होता था" ऐसा तैत्तिरीय संहिता में एक दूसरा स्पष्ट वचन है। जिस प्रकार फाल्गुनी पूर्णिमा में दक्षिणायन होने पर वसंतसंपात मृगशीर्ष में आता है, उसी प्रकार चैत्री पूर्णिमा में दक्षिणायन होने पर वसंतसंपात पुनर्वसु में आयेगा। यह काल अत्यंत प्राचीन है। यज्ञ ग्रंथों में पुनर्वसु की प्राचीन स्थितियों के कुछ संकेत मिलते हैं। अदिति पुनर्वसु की अधिष्ठात्री देवी है। यज्ञ जब देवों के पास से चला गया था तब उसने यज्ञारंभ किया, इसका अर्थ ऐसा हो सकता है कि इसके पूर्व यज्ञ चाहे जब हुआ करते थे, परन्तु इस काल के पश्चात् यह तय हुआ कि वे अदिति से प्रारंभ किये जायें। इस प्रकार अदिति यज्ञों की या संवत्सरों की आरंभक हुई। उसका अधिष्ठान वसंतसंपात में है। तदनुसार सूर्य का वार्षिक-क्रम अदिति से प्रारंभ होता था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय पंचांगों में पुनर्वसु में वसंतसंपात के रहते वर्षारंभ माना जाता था।

"अब तक प्राचीन काल के संबंध में तीन प्रकार से विवेचन किया गया है। उसमें से सबसे पहला काल है अदिति काल या मृगशीर्षपूर्व काल। इसकी मर्यादा अनुमानतः ईसापूर्व ६००० से ४००० वर्ष तक की होती है। इस काल में ऋचायें पूर्ण नहीं हुई थीं। दूसरा है मृगशीर्षकाल। उसकी मर्यादा ईसापूर्व ४००० से २५०० वर्ष तक की है। इस काल में ऋग्वेद के कई सूक्त लिखे गये व अन्य ग्रंथों की रचना हुई। तीसरा काल है कृत्तिकाकाल, जिसकी मर्यादा ईसा पूर्व २५०० से १४०० वर्ष तक की है। यह तैत्तिरीय संहिता व ब्राह्मणग्रंथों का काल है। इस काल में ऋक्सूक्तों के न समझने की स्थिति उत्पन्न हो गई थी।"

'ओरायन अथवा वेदकालनिर्णय' नामक इस ग्रंथ की निर्मिति के पश्चात् लोकमान्य को वेदों में आर्यों के उत्तरध्रुवनिवास संबंधी प्रमाण प्राप्त हुये व भूगर्भशास्त्र की खोजों में हिमकाल के पूर्व उत्तरध्रुव के वसतिक्षम होने के प्रमाण भी प्राप्त हुए। इस से इस काल को और भी पीछे ढकेलना संभव दिखाई दिया व उन्होंने वेदों के काल को और २००० वर्ष पीछे ले जाकर उन्हें ईसापूर्व ८००० वर्ष का सिद्ध किया तथा यह निश्चित मत दिया कि वेदों का काल इसके आगे नहीं लाया जा सकता।

लोकमान्य का उत्तरध्रुव सिद्धान्त (याने आर्य लोग उत्तरध्रुव में रहते थे) आजकल सर्वमान्य हो गया है। परन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित काल मात्र सर्वमान्य नहीं हुआ है। उनके ज्योतिर्गणित के प्रमाणों के आधार पर वेदकाल के संबंध में जो परस्पर विरोधी सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं उन्हें देखने से ऐसा लगता है कि ज्योतिष के आधार पर खोज करने वाले ज्योतिर्विद् अनुसंधानकर्ताओं का भूगर्भशास्त्र के सिद्धान्तों को प्रमाण मानकर चलने वालों को गाली देना सर्वथा अनुचित है क्योंकि उनके स्वतः के निर्णयों में सहस्रों वर्षों का अन्तर पड़ा हुआ है। सो कैसे, यह मैं अगले अध्याय में दिग्दर्शित करूँगा।

———

३

वेदों का काल

लोकमान्य तिलक द्वारा वेदकाल निर्णय के संबंध में किये गये कार्य का हमने गत अध्याय में सिंहावलोकन किया। तिलक के समकालीन एक जर्मन प्रोफेसर हर्मन जाकोबी ने भी ज्योतिष के आधार पर, परन्तु भिन्न रीति से, तिलक द्वारा प्रतिपादित काल के आसपास का काल ही निश्चित किया है। उसने 'अधासु हन्यन्ते गावः', इस एक ही सरल से आधार को लेकर अपने प्रतिपादन में कहा है कि मघा नक्षत्र में जब वर्षाऋतु का प्रारंभ होता था उस समय उत्तर बिंदु था, उसी प्रकार गृह्यसूत्र के विवाह प्रकरण में वर के द्वारा वधु को ध्रुव दिखाने का जो संकेत है वह भी काल निदर्शक है। उसने गणित के आधार पर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि अभी के ध्रुवमत्स्य के अंत का तारा पहले ध्रुवस्थान में नहीं था, वह अभी-अभी हजार बारह-सौ वर्षों से ही ध्रुवस्थान में दिखाई देने लगा है; उसके पूर्व ध्रुवस्थान में जो नक्षत्र रहा हो, उसके रहते सूत्रसाहित्य का निर्माण हुआ। उस नक्षत्र के ध्रुव-स्थान में रहने का काल ३००० वर्ष ईसापूर्व मानकर उसने अपना कालनिर्णय दिया है। लोकमान्य तिलक के समकालीन रा० ब० दीक्षित ने तिलक के सिद्धान्त की पुष्टि करने वाला एक अच्छा प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में से ढूंढ़ निकाला है। वह प्रमाण है कृत्तिका के संबंध में कहा हुआ वाक्य 'एताह वै प्राच्यै दिशे न च्यवन्ते'। रा० ब० दीक्षित अखिल भारतीय कीर्ति के ज्योतिर्विद् हैं तथा उनका 'भारतीय ज्योतिष शास्त्र' नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध है। शतपथ ब्राह्मण के उपर्युक्त वाक्य के आधार पर यह सिद्ध कर कि कृत्तिका में वसन्त-संपात था, श्री दीक्षित ने जहाँ एक ओर लोकमान्य के सिद्धान्त की पुष्टि की है वहाँ दूसरी ओर उन्होंनें लोकमान्य के प्रतिपादन की आलोचना भी की है श्री दीक्षित को लोकमान्य-का सिद्धान्त मान्य है, किन्तु उसे सिद्ध करने के लिए उनके द्वारा दिये गये प्रमाण उन्हें किंचित् भी मान्य नहीं हैं। वे लिखते हैं—

"ऋक्संहिता काल में मृग में वसंतसंपात था, यह बात स्वतंत्र रीति से सिद्ध होती है। उसके लिए परिच्छेद में, 'फाल्गुन में उदगयन' ऐसा अर्थ करने की आवश्कता नहीं। वैसा अर्थ करने में कई अड़चनें हैं। उदगयन के साथ वर्षा-रंभ होता था, ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं है। मार्गशीर्ष को वर्षारंभ का पहिला

मास मानने वाले कई प्रत्यक्ष उद्धरण हैं।" इस प्रकार प्रतिपादन को लचर व सिद्धान्त को ठीक मानकर दीक्षित ने लोकमान्य के सिद्धान्त को भिन्न रीति से स्वीकार किया है।

एक और अन्य पद्धति से व्यंकटेश बापू जी केतकर ने भी लोकमान्य के सिद्धान्त की पुष्टि की है। उन्होंने "बृहस्पतिः प्रथमं जायमानः तिष्यं नक्षत्रमभिसंबभूव" (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३११) इस वाक्य के आधार पर ऐसा प्रतिपादित किया है कि बृहस्पति जब प्रथम उत्पन्न हुआ, तब वह पुष्य नक्षत्र के समीप था। इसका अर्थ यह लिया जाना चाहिए कि गुरु व पुष्य की यह पहली युति हुई। उक्त वाक्य में 'अभि' उपसर्ग के कारण यह अर्थ होता है कि बृहस्पति तिष्य नक्षत्र के समक्ष पहले ही पहल आया, अर्थात् बृहस्पति उसके अंग के ऊपर से गया, यह निर्विवाद है। इसके पूर्व भी गुरु पुष्य के पास से जाता था किन्तु उस समय उसका शर दक्षिण व पुष्य का शर उत्तर की ओर होने के कारण भेदयुति नहीं होती थी। परन्तु जब तैत्तिरीय ब्राह्मण के काल के ऋषियों ने इस युति को सर्वप्रथम देखा, तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने इस वाक्य की रचना की। गुरु का परम शर १ अंश १९ कला है व पुष्य का शर उत्तर ४ कला है। इसलिए सर्वप्रथम भेदयुति होने के लिए गुरुकक्षा का ऊर्ध्वसम्पात तिष्य नक्षत्र के पीछे, पश्चिम की ओर, तीन अंश के स्थान पर आना चाहिए। उक्त वाक्यरचना के पहले वह पात इस बिंदु के पूर्व में होने के कारण गुरु-पुष्य की भेदयुति असंभव थी। इस युति के सहारे गुरुकक्षा पात का स्थान एक अंश के अंदर निश्चित किया जा सकता है। एक अंश पातगति होने के लिये ढाई सौ वर्ष लगते हैं। श्री केतकर ने गुरुपातगति के बारे में फ्रेंच ज्योतिषी लेवेरियर का मत प्रमाण मानकर तैत्तिरीयसंहिता में वर्णित गुरु-पुष्य भेद योग को ईसा के ४६५० वर्ष पूर्व का सिद्ध किया है, व इसके सहारे ऋग्वेद के काल को सहज ही ६००० वर्ष पूर्व का मानकर वे लिखते हैं, "लोकमान्य तिलक को एक समग्र पुस्तक लिखकर जो बात सिद्ध करनी पड़ी वह तो केवल एक वाक्य के द्वारा, एक पंक्ति में, एक ही त्रैराशिक के सहारे सिद्ध हो जाती है।" परंतु केतकर ने गुरु-पुष्य भेद योग की ओर जितना ध्यान दिया है उतना भूतकालवाचक क्रियापद 'बभूव' की ओर नहीं दिया। 'संबभूव' शब्द से केवल इतना ही अर्थ निष्पन्न होता है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के काल में गुरु-पुष्य योग की बात एक भूतकालीन घटना के नाते लोगों को ज्ञात थी।

तिलक के टीकाकार

तिलक के आधुनिक टीकाकार श्री भा० रं० कुलकर्णी ने उनके 'ओरायन' ग्रंथ के संबंध में निम्नलिखित आक्षेप किये हैं। वे कहते हैं—"लोकमान्य तिलक वृषाकपि सूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद का और कोई भी

प्रमाण नहीं दे सके। वृषाकपि सूक्त रूपक माना जाता है। इस कारण उसका उनके द्वारा किया हुआ ज्योतिषपूर्ण अर्थ सब को मान्य नहीं हो सकता। अब बचे इतर प्रमाण। उनमें जो अधिक महत्व का 'अग्रहायण' है, वह वेदों का नहीं है, और लोकमान्य का तो उस पर इतना जोर है कि उसे वे उस काल के अवशेष के रूप में होने का दावा करते हैं जब भारतीय व ग्रीक एकत्र रहा करते थे। तीसरा प्रमाण है तैत्तिरीय संहिता के 'ऋतूनां मुखं यद् वसंत:' व 'कृत्तिका मुखं नक्षत्राणां' ये दो वाक्य तथा उनका समन्वय करते समय गृहीत रखी गई उनके अन्योन्याश्रय की कल्पना। यह प्रमाण उनके ग्रंथ में पहले आया है। श्री कुलकर्णी ने अनेक प्रमाणों द्वारा यह दर्शाया है कि वेदों में २६००० से १६००० वर्ष पूर्व तक की नक्षत्रस्थितियों का वर्णन है। परन्तु उन्होंने भी संहिता काल को ईसा पूर्व ३००० वर्ष का ही माना है व इस प्रकार लो० तिलक से अपनी सहमति व्यक्त की है।

तिलक के इससे भी अधिक सूक्ष्म विवेचक श्री अप्रबुद्ध ने कुल चौदह गृहीत कृत्य दर्शाकर कहा है, "वृषाकपि सूक्त की कुछ ऋचाओं का अर्थ जैसा लोकमान्य ने किया है वैसा ही है। वर्षारम्भ व उदगयन का मेल मानने में, मेरे मतानुसार, दो-चार अड़चने हैं। तैत्तिरीय संहिता में ही संवत्सर सत्र के तीन प्रारम्भ बताये गये हैं। अत: लोकमान्य का यह कथन कि संहिता के अनुसार सत्रारम्भ वर्षारम्भ में ही होना चाहिए, गलत सिद्ध हो जाता है। निदान संहिता काल में तो इस प्रकार आग्रह नहीं था, यह स्पष्ट है। तीन महीने में कभी भी प्रारम्भ हो जाना, आरम्भ में होना नहीं माना जा सकता। वृषाकपि सूक्त में यदि वास्तव में मृगसंपात है तो उसकी रचना ध्रुव के नीचे के प्रदेशों में ही कहीं हुई होगी। उस सूक्त पर लिखते समय ग्रीकों के 'पक्वाना' अर्थात् व्याध की तथा शरत्संपातारम्भ में उगने वाले मूल नक्षत्र की जो कल्पनायें उन्होंने दी हैं, वे उत्तर ध्रुव में सम्भव नहीं। उत्तर ध्रुव में क्रान्तिवृत्त का कुछ भाग बिल्कुल नहीं दिखता तथा वहाँ प्रत्यक्ष सूर्यदर्शन के पूर्व व पश्चात् महीना डेढ़ महीना अच्छा प्रकाश रहता है। इसलिए महीने डेढ़ महीने पूर्ण न दिखने वाला श्वान सूर्य को जागृत करता है यह कल्पना ही अत्यन्त प्रदीर्घ है। नीचे के प्रदेशों में भी इन सूक्तों को विरचित हुआ मानने पर वही अड़चन सामने आती है। याने, मृगनक्षत्र में से सूर्य के जाते तक कई महीने श्वान सायंकाल को दिखता रहता है। सायं काल को अस्त होने वाला तारा सूर्य को जागृत करने गया है यह कहना कहाँ तक ठीक हो सकता है यह पाठक स्वयं सोच लें। वास्तव में, 'श्वान सूर्य को जागृत करता है' यह कल्पना तभी उपयुक्त हो सकती है जब श्वान का उदय सूर्य के उदय के कुछ ही पहले हो। पक्षी सूर्य को जागृत करते हैं यह कल्पना बिल्कुल

उपयुक्त है। किंतु सायंकाल अपने नीड़ों में गये हुए पक्षी सूर्य को जागृत करने गये हैं यह कल्पना क्या किसी भी साहित्य में मिलेगी ? और यदि कहा जाय कि इस प्रकार की प्रदीर्घ कल्पना की जा सकती है, तो सायं काल उगने वाले मूलनक्षत्र को भी प्रातः काल के दिवसेश्वर का अग्रध्वज कल्पित किया जा सकता है। यह विषय कवियों का है। काव्य दृष्टि से यह कहाँ तक संभव है यह कवि ही सोचें। लोकमान्य ने अपने मत की सिद्धि के लिये कुछ बातें पहले ही मान ली हैं, उनका मैं निर्देश करता हूँ : (१) तैत्तिरीय के समय विषुवान का वास्तविक अर्थ लुप्त हो गया था व मृगशीर्ष के समय वह ज्ञात था, ऐसा माना गया है। (२) ऋभु याने ऋतुदेव, यह पाश्चात्यों का तर्क है। ऋग्वेद के अनुसार वे तप के द्वारा देवत्व प्राप्त करने वाले मनुष्य थे। जो ऋग्वेद 'तेन देवत्वं ऋभवः समानश' कह सकता है वह, 'उन्हें ऋतुओं का आधिपत्य मिला', यह कहने में भला क्यों हिचकिचाता ? (३) ऋभुओं को निद्रा के बारह दिवस इसका अर्थ लिया गया है, चांद्र मास का सौर मास से मेल मिलाते समय सौर मान में से निकाले गये बारह दिवस। (४) शरद् ऋतु भी वसंत के समान ही सुरम्य है तथा स्वतः ऋग्वेद में रात्रि संबंधी अनेकों सुंदर वर्णन प्राप्त होते हैं। किंतु फिर भी उस ऋतु को भयंकर व घनाच्छादित कहा गया है। (५) ऋग्वेद में विश्व शब्द जग (cosmos) के अर्थ में प्रयुक्त न होकर 'सर्व' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लोकमान्य ने उसका अर्थ जग ही माना है। (६) ऋग्वेद के समय में चांद्र व सौर वर्षों का मेल नहीं मिलाया गया था ऐसा मान लिया गया है। (७) 'संवत्सरे इदमद्य' का सरल अर्थ है 'वर्ष के अंत में किसी समय'। परन्तु इसका अर्थ किया गया है 'नव वर्ष के आरंभ में।' (८) ऋभुओं की निद्रा का उल्लेख दो स्थानों पर आया है। दोनों सूक्त अलग अलग ऋषियों के हैं तथा दोनों में भूतकाल का ही प्रयोग किया गया है यथा—अश्विनों ने विश्पला का पैर अच्छा किया, भुज्यु को समुद्र में से निकाला, आदि। कहीं भी उनका इंद्र, मरुत्, अग्नि आदि के पराक्रम के समान नित्यत्व दर्शक उल्लेख नहीं है। परन्तु फिर भी ऋभुओं की निद्रा को वर्तमानकालीन घटना माना गया है। (९) निद्रा के बारह दिनों में खेत धान्यादि से सुसम्पन्न हुए, निर्जल प्रदेशों में औषधियाँ उगीं तथा सब जगहों में पानी उत्पन्न हुआ (सुक्षेत्रा कृण्वन्नयन्त सिन्धून्धन्वा तिष्ठन्नोषधिर्निम्नमापः (ऋ० ४.३३.७) इन वर्णनों के होते हुए भी ये बारह दिवस शिशिर के माने गये हैं। (१०) वृषाकपि सूक्त में वृषाकपि का अर्थ संपात का सूर्य लिया गया है। (११) उसी प्रकार, उस प्रसंग के काल को भी, जब वृषाकपि को घर पहुँचाया जाता है, उत्तरायण के अंतिम भाग के काल माना गया है। (१२) दक्षिणायन में सूर्यास्त के समय मृगनक्षत्र उदित होने लगता है। इस घटना को वृषाकपि के मृग का रूपक कहा गया है।

परन्तु दक्षिणायन में तो सूर्य अपने घर चला गया रहता है। ऐसी अवस्था में उसके साथ का मृग मस्त ही कैसे हो सकता है ? (१३) उत्तरायण के आरंभ में मृग का अस्त होता है तथा उसके पूर्व वह रात्रि में उदित होता है। ऐसी अवस्था में उसे सूर्य का मित्र मानना युक्ति संगत नहीं, परन्तु ऐसा माना गया है। (१४) 'तुरीयेण ब्रह्मणा' का अर्थ 'तुरीय मंत्र की सहायता से' ऐसा किया यया है। परन्तु वह विशेष नाम है। उसी प्रकार ब्रह्म का अर्थ मंत्र मानकर यूरोपीय विद्वानों को भी मात दे दी गई है। इस प्रकार के अनेकों मनोरंजक विधान इस छोटे से प्रबंध में दिखाई देते हैं। इतनी सारी बातें मान लेने पर तो चाहे जिस प्रकार के रूपकों की कल्पना की जा सकती है। मंडल १ सूक्त १२३ में कहा गया है, "पृथुरथो दक्षिणाया: अयोजि आ: एनं देवासा अमृतासा आस्थु:" याने, 'उषा का भव्य रथ जुतकर तैयार है तथा उसके चारों ओर तारागण चमक रहे हैं।' यहाँ यदि रथ का अर्थ रोहिणी शकट मान लिया जाय तो इसके दो महीने बाद उगनेवाला सूर्य आश्लेष में आता है और उसके आधार पर ध्रुव में आश्लेप संपात भी सिद्ध किया जा सकता है। परंतु यह पद्धति उचित नहीं है; भले ही उससे कभी कोई बात अनुकूल ही क्यों न सिद्ध की जा सके। मेरा तो मत है कि इस सूक्त में, पुत्र प्राप्ति के लिए स्त्री के अंत:करण की अनिवार लालसा के पूर्ण न होने के कारण हृदय में उत्पन्न होने वाले उद्वेग का तथा, वह लालसा पूरी होगी इस कल्पना के कारण अनुभव होने वाली धन्यता का अत्यंत हृदयंगम वर्णन किया गया है। ऐसी कोई भी लोकविलक्षण बात इसमें नहीं है जिसके कारण इसे रूपक माना जावे। इंद्र का पौष्टिक आहार, इंद्राणी का कोप, कामशास्त्र के तत्व इत्यादि अनेकों बातों की संगति रूपक मानने पर नहीं बैठती। और यदि उसे रूपक ही माना जाय तो यह बताने की जिम्मेदारी सिर पर आती है कि इंद्र, इंद्राणी आदि कौन सी सृष्ट घटनायें हैं। चाहे जितनी बातों को गृहीत रखकर ही यदि रूपक बनाना हो तो सूरत में हुई लोकमान्य तिलक व गोखले की लड़ाई को भी ज्योतिर्विषयक रूपक का स्वरूप दिया जा सकता है! इस सूक्त में से मृगशीर्ष के वसंतसंपात का अर्थ निकालने के लिए कोई भी आधार नहीं है।"[1]

इस प्रकार गुरुवर्य श्री अप्रबुद्ध ने लोकमान्य तिलक के प्रमाणों की अस्थिरता दर्शाकर कालनिर्णय के लिए अपने स्वत: के भिन्न गमक प्रस्तुत किये हैं। अनेक प्रगट व सूक्ष्म शंकाओं का उत्तर देते हुए उन्होंने बताया है कि शतपथ ब्राह्मण में कृत्तिकाओं का उल्लेख संपात सिद्ध करता है तथा वह उल्लेख उस समय का है जब कृत्तिकापुंज विषुव में ही था अर्थात्, प्रत्यक्ष संपात आजकल के रोहिणी विभाग के प्रारंभ में था। शतपथ ब्राह्मण

१. Message of Rigved.

के काल को ईसा के ३००० वर्ष पूर्व का बतलाकर, पश्चात् उन्होंने यह सिद्ध किया है कि बृहदारण्यक में उल्लिखित परीक्षित पांडवों का पूर्वज नहीं, उनका वंशज है, व इस पर से वाजसनेयी संहिता का काल ईसा के ३००० वर्ष पूर्व का व ऋग्वेद का काल ४००० वर्ष पूर्व का सिद्ध किया है। इससे यह स्पष्ट है कि श्री अप्रबुद्ध ने लोकमान्य की कड़ी अलोचना करके भी अन्य प्रमाणों की सहायता से उनके द्वारा प्रतिपादित काल ही स्वीकृत किया है। परन्तु 'ऋग्वेद का काल' इस संज्ञा के संबंध में लोकमान्य व अप्रबुद्ध के दृष्टिकोणों में अंतर है। अप्रबुद्ध के ही शब्दों में वह अंतर इस प्रकार है—"किसी भी प्रकार ऋग्वेद का काल ईसा पूर्व ४००० वर्ष के इस ओर नहीं खींचा जा सकता। लोकमान्य के कथनानुसार भी यही सिद्ध होता है। परन्तु उनका कथन कुछ भिन्न प्रकार का है। वे कहते हैं कि ऋग्वेदीय संस्कृति तो उसके पूर्व अनंत काल से थी परंतु उसका साहित्य मात्र ईसा पूर्व ४००० वर्ष से अधिक प्राचीन का सिद्ध नहीं किया जा सकता। उस साहित्य का निर्माण, अर्थात् प्रत्यक्ष ऋग्वेद रचना, ईसा पूर्व ४००० से लेकर ईसा पूर्व २५०० वर्ष के बीच कभी हुई होगी। ऋग्वेद में उत्तरध्रुव का उल्लेख है, यह उन्होंने उत्तम रीति से सिद्ध किया है। उनका कथन है कि उत्तर ध्रुव की स्मृति को चार पाँच हजार वर्षों तक मस्तिष्क में धारण कर अर्धसंस्कृत व घूमने फिरने वाले लोगों ने उन्हें बाद में काव्य-बद्ध किया। यह कल्पना ही इतनी विचित्र है कि उसमें अंतर्निहित दुराग्रह को अलग से दर्शाने की आवश्यकता नहीं।" लोकमान्य ऋग्वेद संस्कृति को प्राचीनतम, व ऋग्वेद रचना काल को ईसा पूर्व ४००० से ६००० वर्ष के बीच का मानते थे। इसके विपरीत श्री अप्रबुद्ध का कथन है कि ऋग्वेद रचनाकाल को ईसा पूर्व ४००० वर्ष के इस ओर लाया नहीं जा सकता तथा संस्कृति ही नहीं, प्रत्यक्ष ऋग्वेद की रचना भी उतनी ही प्राचीन है यही इन दोनों के दृष्टिकोणों का मुख्य अंतर है। तात्पर्य यह, कि लोकमान्य तिलक द्वारा प्रतिपादित काल ही स्वीकार किया है। परन्तु ज्योतिष के प्रमाणों के सहारे ही अन्य लोगों ने भी काल के संबंध में जो काल्पनिक उड़ानें लगाई हैं, उनका उल्लेखमात्र कर देने से यह स्पष्ट हो जाता कि ये प्रमाण भी भूगर्भशास्त्र के प्रमाणों के समान ही संदेहास्पद हैं। आधुनिक अन्वेषकों में डॉ० आर० शामशास्त्री को छोड़कर अन्य सब लोगों ने लोकमान्य तिलक की कालमर्यादा के आगे छलांगें लगाई हैं।

मतमतान्तरों का कोलाहल

कोंकण में स्थित राजापुर के विख्यात पंडित श्री पाटणकर अपरनाम 'महाराष्ट्रीय' ने यह बताकर कि 'मार्गशीर्ष की पूर्णिमा को 'अग्रहायणी' की संज्ञा मिलने के पूर्व मृगशीर्ष को 'अग्रहायण' की संज्ञा प्राप्त हुई होना

चाहिए, वर्ष के आरम्भ में उसके आने की जो घटना इस संज्ञा के लिए कारणीभूत हुई है वह तब की है जब मृग में इसके पूर्व उत्तर बिंदु था, अर्थात्, वह घटना संपातचलन के एक वृत्त पीछे की है,' वेदों का काल २१००० वर्ष पूर्व का सिद्ध किया है। 'हरिवंश' सरीखे इस सम्वन्ध में अविश्वसनीय ग्रंथ के आधार पर पं० महाराष्ट्रीय ने भौगोलिक परिस्थिति व ऋतुमान की संभाव्यता के सम्बन्ध में विलक्षण भ्रममूलक बातें गृहीत रखी हैं। यहाँ उनका सविस्तार विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हमें तो केवल यही देखना है कि भूगर्भशास्त्र के समान ही ज्योतिर्गणित के आधार पर किये हुए कालनिर्णयों में भी किस प्रकार सहस्रावधि वर्षों का अन्तर पड़ जाता है। इसलिए पाटणकर के २१००० वर्षों का उल्लेख मात्र यहाँ पर्याप्त है।

पाटणकर से भी आगे जाकर श्री लेले व पं० सुधाकर द्विवेदी ने इस काल को क्रम से ४०,००० व ५४,००० वर्ष पीछे का सिद्ध किया है। ज्योतिष के आधार पर पं० कृष्णशास्त्री गोडबोले वेदकाल को १८००० वर्ष पूर्व ले गए हैं। जिन प्रमाणों के आधार पर लोकमान्य तिलक ने वसंतसंपात सिद्ध किया है, उन्हीं प्रमाणों के सहारे शरत्संपात सिद्ध कर पं० कृष्णशास्त्री गोडबोले ने वेदकाल को और भी १२००० वर्ष पीछे धकेला है। आजकल उनके मत की पुष्टि भी होने लगी है क्योंकि कुछ अन्य प्रमाणों की सहायता से दूसरे लोग भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।

वेदकाल को अधिकाधिक पीछे ले जाने का प्रयत्न पं० दीनानाथ शास्त्री चुलेट ने किया है। उन्होंने वेदकाल को डेढ़ लाख वर्ष पूर्व का सिद्ध किया है। परन्तु इसके लिए उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं उनको उन पर ही लौटाया जा सकता है। उन्होने अविनाशचंद्र दास के भूस्तर संबंधी लेख के आधार पर भारत की भौगोलिक स्थिति के परिवर्तन के संबंध में ६०,००० वर्ष का काल गृहीत रखा है। परन्तु जब श्री दास ने ६०,००० वर्ष की जगह २७,००० वर्ष का काल बताया तब उनका यह आधार अपने आप ही ढह गया। श्री चुलेट ने कुछ अन्वेषकों की इस कल्पना को, कि एक समय रवि की परम कांति ६१ अंश रही होगी, सिद्धान्त मानकर तथा लोकमान्य के 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज्' में दीर्घरात्रि के जिन चमत्कारों का वर्णन है वे प्राचीनतम काल में काश्मीर में ही संभव हो सकते थे ऐसा प्रतिपादित कर एक ही धड़ाके में तिलक के उत्तर ध्रुवनिवास व पावगी के साम्राज्यविस्तार की कल्पनाओं को उड़ा दिया है। उनके द्वारा गृहीत रखी गई बातें बड़ी ही विचित्र हैं। उनके एक टीकाकार श्री कुलकर्णी कहते हैं कि,

"उनके विवेचन में तथ्यहीन बातों को गृहीत रखने का प्रकार अधिक है। जैसे, 'भारत नाम के तारकापुंज में वसन्तसम्पात था। भारत नाम उसी समय पड़ा। इसके लिए आधार है 'नक्षत्राणामहं शशी,' अर्थात् मैं नक्षत्रों में

शशी हूँ। यहाँ शशी का अर्थ चंद्र नहीं वरन् शशक नामके छटवें स्तर का तारा है जो भरत नामके तारकापुंज के पास है। इसी शशक के पास वसन्तसम्पात हुआ होगा, अन्यथा भगवान उसे अपनी विभूति कैसे कहते? शशक के पास वसन्त सम्पात होने का अर्थ है मृगशीर्ष के रहते महाभारत का युद्ध हुआ। अत: वेदों का काल इसके भी पूर्व का होना चाहिए।' परन्तु इस समस्त विवेचन में श्री चुलेट यह भूल गए हैं कि नक्षत्र का शशक नाम महाभारत कालीन नहीं है बल्कि गत सौ वर्षों का है। तारों के शशक, भरत आदि नाम श्री जांभेकर शास्त्री के दिये हुए हैं ताकि अँग्रेजी नाम वाले तारों का मराठी में बोध हो सके। उन्होंने ये नाम जानबूझकर पुराणों में उल्लिखित कुछ व्यक्तियों के नाम पर रखे हैं। इन यदृच्छया रखे गए नामों के आधार पर यदि कोई पुराणों या वेदों की घटनाओं का काल निश्चित करने का प्रयास करे तो उसके समान अन्वेषण में कालविपर्यास का और कौन सा उदाहरण हो सकता है ?"

बिल्कुल अभी अभी श्री कुलकर्णी ने शुल्वसूत्र के 'चित्रास्वात्योर्यदन्तरं' उल्लेख के आधार पर १५००० वर्ष पूर्व का काल सिद्ध होने की बात कही है। पुनर्वसु, जलाष, भेषज, रुद्र व मुख्यत: ब्रह्म अर्थात् अभिजित् नक्षत्र के ध्रुवस्थान में रहने का काल आदि प्रमाणों के आधार पर उन्होंने यह भी दिखलाया है कि ऋग्वेद में १८०००, १९००० व २०,००० वर्ष पूर्व की नक्षत्रस्थितियों का उल्लेख है। परन्तु चुलेट शास्त्री की आलोचना करते समय प्रमाणों के बारे में उनकी स्वयं की भी वही अवस्था हो गई है। उन्होंने शुल्व सूत्र का जो श्लोक उद्धृत किया है वह काल निर्णय के लिये कहाँ तक प्रमाणभूत माना जा सकता है यही सबसे बड़ा प्रश्न है। स्वयं उन्हें ऐसी शंका उत्पन्न हुई दिखाई देती है। बाकी के प्रमाणों के आधार पर किया गया उनका विवेचन केवल अनुमान-जन्य है। उदाहरणार्थ 'ब्रह्माय वाचः परमं व्योम' इन शब्दों में परम शब्द का अर्थ ऊँचा व ब्रह्म शब्द का अर्थ यजुर्वेद के एक आधार पर तेज मानकर उन्होंने ब्रह्म याने अभिजित् नक्षत्र रूपी तारा परम याने ध्रुव के पास था ऐसा प्रतिपादित किया है। परन्तु उनके द्वारा उद्धृत इस ऋचा का ऐसा अर्थ नहीं निकलता। क्योंकि 'ब्रह्म वाचा का परम स्थान है' इसका सरल अर्थ ऋग्वेद में ही उल्लिखित सर्वश्रेष्ठ परावाणी के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है व ब्रह्म का निर्देश उस श्रेष्ठ वाणी के स्थान के रूप में करना पूर्णरूप से वैदिक संकेत के अनुरूप है। उनके द्वारा उद्धृत पंक्ति एक श्लोक में प्रश्न के उत्तर के रूप में आई है। वह प्रश्नोत्तर निम्नानुसार है—

प्रश्न—पृच्छामि त्वां परमन्तं पृथिव्याः।
पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णी अश्वस्य रेतः।
पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥

उत्तर—इयं वेदिः परो अन्तो पृथिव्याः ।
अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्यरेतो ।
ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ।।

यहाँ 'परमन्तं' शब्द का सरल अर्थ है 'सर्वश्रेष्ठ स्थान'। प्रश्नकर्ता ने पूछा है कि पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ स्थान कौनसा है, जग का मध्य कहाँ है, अश्व का रेत कौन सा है तथा वाणी का सर्वश्रेष्ठ स्थान कहाँ है? और इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में क्रम से वेदी, यज्ञ, सोम व ब्रह्म बताये गये हैं। यहां पर यज्ञक्रिया के महत्व का वर्णन किया गया है तथा वेदी इत्यादि के संबंध की भावना के अनुसार ही वाचा अथवा वेदमंत्र के ईश्वर प्रणीत होने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। किंतु इसके आधार पर, 'अभिजित् याने ब्रह्म नक्षत्र ध्रुव के पास था, उस समय ध्रुववृत्त के पास के लोगों को वह ब्रह्मतारा 'परमं व्योम' दिखा होगा, उसी प्रकार वह 'भुवनस्य नाभिः' दिखा होगा तथा उससे ही सरस्वती अथवा वाचा अथवा आकाशगंगा नीचे क्षितिज की ओर आती हुई स्पष्ट दिखी होगी', आदि जो कल्पनाएँ की गई हैं वे कवियों के लिये ही ठीक हो सकती हैं। और फिर इस कल्पना में वेदी, यज्ञ आदि शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है? ब्रह्म शब्द सगुण साकार के लिए प्रयुक्त हुआ है यह ठीक है किंतु तारे के नाम के रूप में वह कभी प्रचलित रहा होगा, इसके लिए कोई भी आधार नहीं मिलता। जहां कहीं भी तेज शब्द प्रयुक्त हुआ हो वहाँ वह तारे के लिये ही प्रयुक्त हुआ होगा, ऐसा मानना नक्षत्रों के पीछे पागल हो जाना ही कहा जायगा। यजुर्वेद का जो आधार श्री कुलकर्णी ने उद्धृत किया है व म० म० श्रीधर शास्त्री पाठक का अर्थ गलत बताकर स्वयं का नक्षत्र संबंधी अर्थ उस पर लादा है, वह सही नहीं है। यजुर्वेद में वे प्रश्नोत्तर निम्नानुसार हैं—

प्रश्न—किं स्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किं समुद्रसमं सरः ।
किं स्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ।।
उत्तर—ब्रह्मसूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ।।

यहाँ प्रश्न हैं—सूर्यमंडल सरीखा तेज कौन सा है? समुद्र सरीखा सरोवर कौन सा है? पृथ्वी से बड़ा क्या है? व किस वस्तु का परिणाम नहीं है? इनके उत्तर अनुक्रम से ब्रह्म, अंतरिक्ष, इंद्र व धेनु दिये गये हैं। उत्तर देखने पर ब्रह्म शब्द का अर्थ नक्षत्र नहीं निकलता। इसके विपरीत म० म० श्रीधर शास्त्री पाठक के कथनानुसार इसका योग्य अर्थ वेद ही हो सकता है। गाय का परिमाण नहीं है ऐसा भी कहा गया है। परन्तु क्या यह परिमाण प्रत्यक्ष स्थूल वस्तु के भौतिक माप से निश्चित किया जाना चाहिए? इंद्र पृथ्वी से

बड़ा है, ऐसा कहने में क्या भौतिक माप अभिप्रेत है? वास्तव में इस प्रकार का काव्यात्मक वर्णन उन वस्तुओं के लिये किया जाता है जो पूज्य होती हैं। खींचतान कर ब्रह्म का संबंध यदि तेज से लाया भी जाय तो भी उसका अर्थ नक्षत्र नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी नक्षत्र सूर्य के समान तेजस्वी नहीं है। और फिर धेनु और इन्द्र का क्या होगा? तात्पर्य यह, कि यह सब देखने पर श्री अप्रबुद्ध का यह अभिप्राय कि 'समासतः यह पद्धति अनुचित है' यथार्थ ही प्रतीत होता है।

अस्तु। ईसा पूर्व ४००० से लेकर डेढ़ लाख वर्षों तक के कालखंडों के आश्चर्यजनक परस्पर विरोधी निर्णयों व उनके लिए दिये जाने वाले प्रायः समान योग्यता के व अनुमान जन्य प्रमाणों को देखने पर सबसे अधिक प्रामाणिक समझे जाने वाले ज्योतिष के प्रमाणों को भी संदिग्ध मानने योग्य स्थिति निर्माण हो जाती है। इतर अन्य प्रमाणों के आधार पर कालनिर्णय करने वाले लोगों में भी मेक्समुल्लर के १२०० वर्षों के काल से लेकर श्री विनोबा भावे, संपूर्णानंद प्रभृति विद्वानों के २०,००० वर्षों के काल तक का मतभेद दिखाई देता है व सर्वसामान्य विचारक की इस संबंध में 'नैको ऋषिर्यस्य वचः प्रमाणम्' की स्थिति हो जाती है।

वैदिक राष्ट्र की अस्मिता की अनादिता

अब तक जो लाखों के कालनिर्णय का उल्लेख हुआ है वह आखिर किस बात का निदर्शक है ? हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये सारे ही निर्णय प्रत्यक्ष ऋग्वेद की रचना कब हुई इस संबंध में किये गये हैं। इनमें से यथासंभव वादातीत व सरल विवेचन श्री अप्रबुद्ध का माना जा सकता है। शतपथ में कृत्तिकासंपात को एक बार मान लेने पर (व उसे मानना ही पड़ता है) शतपथ के ईसा पूर्व ३००० वर्ष के काल के आधार पर ऋग्वेद संहिता को ईसा पूर्व ४००० वर्ष से अधिक अर्वाचीन माना ही नहीं जा सकता। उनका यह काल निर्णय अर्थ की खींचातानी न करते हुए व शब्दों के अर्थ को न मरोड़कर सरल रीति से किया हुआ होने के कारण इसमें विवाद का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ? लोकमान्य का भी यही मत है तथा बहुसंख्यक विचारकों की भी इस संबंध में मतैक्यता दिखाई देती है, यह विषेश महत्व की बात है। पंडितों का यह सारा विवाद केवल प्रयुक्त हुए प्रमाणों की युक्तापयुक्तता के संबंध में है, निर्णय के संबंध में नहीं, यह स्पष्ट दिखाई देता है। परन्तु यह निर्णय केवल इसी बात का है कि वेदकाल को इसके आगे नहीं खींचा जा सकता। उसके पूर्व वह कितना प्राचीन है यह कोई भी नहीं बता सकता तथा ऋग्वेद के सूक्तों को रचना ईसापूर्व ४००० से ६००० वर्ष के बीच की मान लेने पर भी, ऐसी रचना संभव

बना सकने लायक संस्कृति का विकसन होने के लिये कितना समय लगा होगा, यह कोई नहीं बता सकता। प्राणांतिक आपत्तियों में से जैसे तैसे बचा हुआ यह अधूरा साहित्य हिमप्रलय के पश्चात् अपने हाथों में आया है यह यदि हम ध्यान में रखें तथा इसमें के 'नासदीय' व 'अस्यवामस्य' सरीखे सर्वश्रेष्ठ तत्वज्ञान का आविष्कार करने वाले संशयातीत उल्लेखों को देखें तो हिमप्रलय-पूर्व की वैदिक संस्कृति की श्रेष्ठ योग्यता हमारे ध्यान में स्पष्ट रूप से आ जायेगी। उस संस्कृति का प्रारंभ खोज सकना किसी के लिये भी संभव न होने के कारण यह सहज ही सिद्ध होता है कि वैदिक राष्ट्र की संस्कृति अथवा अस्मिता सहस्त्रावधि वर्षों पूर्व की है तथा उसका आदि या मूल कोई भी बता नहीं सकता। वेवर का इस संबंध में क्या मत है यह पहले ही बताया जा चुका है। वेदों के विख्यात अभ्यासक तथा भारतीय वेदाध्ययन कर्ताओं के मनों पर अप्रतिहत प्रभुत्व जमाने वाले अन्वेषक मेक्समुल्लर ने सन् १८९० में भौतिक धर्म पर दिये गये व्याख्यानों में इस संबंध में स्पष्ट कहा है कि ऋग्वेद के प्राचीनत्व की काल-मर्यादा निश्चित हो सकने की आशा ही नहीं करना चाहिए। श्री अप्रबुद्ध ऋग्वेद के कालनिर्णय के संबंध में अपना निर्णय बताते हुए कहते हैं— "कुछ भी हो ऋग्वेद का काल ईसा पूर्व ४००० वर्ष से अधिक अर्वाचीन हो ही नहीं सकता। वैदिक लोग तो वेदों को अनादि मानते ही हैं। अर्वाचीन लोग भी, वेदों का आदि निश्चित करना संभव नहीं, इस अर्थ में ही क्यों न हो, यही बात कहते हैं तथा ऐतिहासिक पद्धति के अनुसार देखने पर यही कहना क्रम प्राप्त है कि ऋग्वेद का काल ईसा पूर्व ४००० वर्ष से अधिक अर्वाचीन नहीं है। उसके पूर्व उसकी रचना कब हुई, यह कम से कम आज तो कोई भी नहीं बता सकता। ऐसा लगता है कि मनुष्य जाति की उत्पत्ति व संस्कृति के काल के संबंध में मिशनरियों की अर्थहीन कल्पना को त्यागकर अर्वाचीन पंडित ज्यों ज्यों अधिकाधिक प्राचीन काल की ओर बढ़ते जायेंगे, त्यों त्यों ऋग्वेद का यह ऐतिहासिक आदि भी अनंत कहाये जा सकने की ओर उत्तरोत्तर अग्रेसर होता जायेगा।

लोकमान्य का मत

ऋग्वेद का अर्वाचीन काल अधिकाधिक पीछे ले जाने का क्रान्तिकारक कार्य लोकमान्य तिलक ने अपने ध्रुव सिद्धान्त के द्वारा किया है। परन्तु उसकी प्राचीनता की मर्यादा के संबध में उन्हें भी अनादित्व की ओर अंगुलि निर्देश करते हुए उपर्युक्त अर्थ के उद्गार ही निकालना पड़े हैं। अपने 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज्' में प्राचीन भारतीय साहित्य की मान्यता तथा अर्वाचीन अन्वेषण का विवेचन कर उन्होंने बड़े ही सरस ढंग से यह

समझाया है कि कैसे भिन्न-भिन्न अर्थों में दोनों को भी अनादित्व की भाषा स्वीकार करनी पड़ती है। लोकमान्य कहते हैं:—

We may therefore safely assert that the religion or the premitive Arctic Home was correctly preserved in the form of traditions by the disciplined memory of the Rishis until it was incorporated, first into crude as contrasted with the polished hymns (Suktas) of the Rigveda in the Orion period to be collected later on in the Mandalas and finally into Samhitas; and that subject matter of these hymns is inter-glacial, though its ultimate origin is still lost in geological antiquity. Without mixing up the theological and historical views we may therefore now state the two in parallel columns as follows—

Theological view	Historical view
1. The Vedas are eternal (Nitya), begining less (Anadi), and not made by man (Apaurusheya).	1. The Vedic or the Aryan religion can be proved to be inter-glacial; but its ultimate origin is still lost in geological antiquity.
2. The Vedas were destroyed in the deluge at the end of the last kalpa.	2. Aryan religion and culture were destroyed during the last glacial period that invaded the Arctic Aryan Home.
3. At the begining of the present Kalpa, the Rishis, through Tapas, reproduced in substance, if not in form, the anti deluvian Vedas, which they carried in their memory by the favour of God.	3. The Vedic Hyms were sung in post-glacial times by poets who had inherited the knowledge or contents there of in an unbroken tradition from their anti-diluvian forefathers.

On comparison of two columns it will be found that the tradition about the destruction and the reproduction of the Vedas, recorded by Vyas in the Mahabharat verse referred to above, must be taken to have been founded substancially on historical fact. It is true that according to puranic chronology the begining of the current Kalpa is placed several thousands of years before the present time. But if according to the estimates

of some geologists the post-Glacial period is, even now, said to have commenced some 80,000 years ago, if not earlier. We need not be much surprised at the Puranic estimate, especially when as stated above, it is found to disclose a real tradition of 10,000 years assigned to a cycle of four Yugas, the first of which began with the new Kalpa, or, in the language of geology, with present post-Glacial period. We may, however, still assert that for all practical purposes, the Vedic religion can be shown to be beginingless even on strict scientific grounds.

—The Arctic Home in the Vedas p. 458

(इस प्रकार अपनी अनुशासित स्मरणशक्ति के सहारे वैदिक ऋषियों ने अपने मूलस्थान के धर्म के स्वरूप को आख्यायिकाओं के रूप में ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा तथा बाद में उन आख्यायिकाओं को सूक्तों में स्थान प्राप्त होकर कालान्तर में उनकी मंडलों व सूक्तों के रूप में रचना हुई। यह निश्चित रूप से कहने में अब कोई आपत्ति नहीं है कि इन सूक्तों का तात्पर्यार्थ हिमान्तरकालीन है तथा उनका आदि मूल प्राचीन भूस्तरीय काल में लुप्त हो चुका है। अब ब्रह्मवादी व ऐतिहासिक मतों को बिना एक दूसरे में मिश्रित किये परस्पर समक्ष रखा जा सकता है।

ब्रह्मवादीमत	ऐतिहासिक मत
१. वेद नित्य, अनादि व अपौरुषेय हैं।	१. वेदान्तर्गत आर्यधर्म हिमान्तर-कालीन है, यह सिद्ध किया जा सकता है; परन्तु उसका आदिमूल प्राचीन भूस्तरीय काल में लुप्त हो हो गया है।
२. गत कल्प के अंत में जो प्रलय हुआ उसमें वेद नष्ट हो गए।	२. आर्यों का धर्म व उनकी सभ्यता उनके ध्रुव निवास के समय हुए बर्फ के प्रलय में नष्ट हो गई।
३. प्रस्तुत कल्प के आरम्भ में ऋषियों ने तपस्या कर ईश्वर की कृपा से स्मरण में रहते हुए वेदों का, शब्दशः न सही, किंतु तात्पर्यतः पुनरुज्जीवन किया।	३. चालू हिमोत्तरकाल में ऋषियों ने अपने प्रलय-पूर्वकालीन पूर्वजों से परम्परा प्राप्त धर्म के तात्पर्य की सहायता से वैदिक सूक्तों की रचना की।

उपर्युक्त दोनों मतों की तुलना करने से यही दिखाई देता है कि श्रीमन्महाभारत की वह आख्यायिका, जिसमें युगान्त काल में वेदों के नष्ट हो

जाने पर व्यास के द्वारा उनके पुनरुज्जीवन की कथा उल्लिखित है, ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। यह सत्य है कि पुराणों के आधार पर चालू कल्प का प्रारम्भ हजारों वर्ष पूर्व हुआ है किंतु यदि आज भी भूगर्भशास्त्रियों के मतानुसार गत हिमकाल को बीते ८०,००० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं तो पुराणों के अनुमानों के प्रति आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। साथ ही, यदि योग्य रीति से विचार किया जाय तो दिखाई देगा कि नवीन कल्प से प्रारम्भ हुए या, यदि भूगर्भशास्त्रियों की भाषा में ही बोला जाय तो, चालू हिमोत्तरकाल से प्रारम्भ हुए महायुग की अवधि १०,००० वर्ष की है। वैदिकों का धर्म अति प्राचीन भूस्तरीय काल में लुप्त हो गया है, इसे यदि ध्यान में रखा जाय, तो शुद्ध शास्त्रीय आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक धर्म अनादि है।)

प्राचीन भाष्यकारों के प्रतिपादनानुसार तथा आज के शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार भी, जिसका आदि कोई बता नहीं सकता, उस वैदिक राष्ट्र का मूलस्थान कौन सा है? यह आधुनिक अनुसंधानकर्ताओं के समक्ष बड़े ही विवाद्य प्रश्न के रूप में उपस्थित है। वैदिक साहित्य में जिन लोगों का जीवन प्रतिबिंबित हुआ दिखाई देता है वे आर्य लोग बाहर से हिंदुस्थान में आए तथा उनका मूलस्थान मध्य एशिया में किसी स्थान पर रहा होगा, ऐसा यूरोपीय अनुसन्धानकर्ताओं का मत है। लोकमान्य तिलक उस मूलस्थान को उत्तर ध्रुव प्रदेश में बताते हैं। उत्तर ध्रुव प्रदेश अत्यधिक शीत के कारण आज भले ही वसतिक्षम न हो किंतु हिमप्रलय के पूर्व वह वसतिक्षम था, यह लोकमान्य तिलक ने सिद्ध कर दिया है एवं इस संबंध में उठने वाली समस्त शंकाओं का निर्मूलन कर दिया है। सन् १८२० में जे० जी० ह्लोड ने पारसियों के धर्म ग्रंथ जेंद अवेस्ता में वर्णित भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर यह प्रतिपादित किया कि आर्यों का मूल वसतिस्थान मध्य एशिया में था तथा वहाँ से वे सर्वत्र जगत् में फैले। श्लेगेल, पाट, लासेन, जेकब, ग्रिम, पिक्टेट आदि अनेकों पाश्चात्य विद्वानों ने इसी मत का जोरदार समर्थन किया है। डॉ० लेदेम ने इस मत का खंडन करते हुए यह दृष्टिकोण उपस्थित किया कि आर्यों का मूलस्थान यूरोप में ही खोजा जाना चाहिए और उसी आधार पर प्रो० वयूनों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि आर्यों का मूलस्थान यूरोप के उस भाग में था जो यूराल पर्वत के पश्चिम में तथा फ्रांस व जर्मनी के उत्तर में स्थित है। अनेक अनुसन्धानकर्ताओं ने जहाँ इसी मत का पुरस्कार किया है वहाँ प्रो० गायगेर ने अपना मतभेद प्रदर्शित कर जर्मनी को ही आर्यों का मूलस्थान बताया है। किन्तु यहाँ पर ही इस मतभेद की समाप्ति नहीं है। रशिया, तुर्किस्तान, यूफ्रेटिस नदी का तटवर्ती प्रदेश, स्कॅंडिनेविया, आइसलॅंड,

हंगरी के आसपास का प्रदेश आदि अनेक स्थानों को आर्यों का मूलस्थान बताया गया है। पहले डॉ० वारेन ने अपने 'पैराडाइज़ फाउण्ड' नामक ग्रंथ में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि उत्तर ध्रुव के पास मनुष्यों का निवास रहा होगा तथा इसी का आधार लेकर व ऋग्वेद व जेंदावेस्ता के प्रमाणों के सहारे लोकमान्य ने उसे वैदिक आर्यों का मूलस्थान बताया। इस मूलस्थान की खोज के मूल में जो एक बात गृहीत रखी गई है वह यह है कि वैदिक आर्यों का मूलस्थान हिंदुस्थान के बाहर किसी स्थान पर था तथा उस मूलप्रदेश से वे जग भर में फैले; उनमें से एक टोली हिंदुस्थान में आई और उसने यहाँ के मूलनिवासियों को जीतकर अपनी अधिसत्ता हिंदुस्थान में प्रस्थापित की। वैदिक आर्यों के मूलस्थान को हिंदुस्थान के बाहर खोजने का मुख्य कारण यह है कि यूरोपीय पंडितों के तर्कानुसार वैदिक साहित्य के निर्माता एक विशिष्ट मानववंश के थे। इस तर्क का कारण भी तुलनात्मक भाषाशास्त्र के काल्पनिक प्रमाणों में अन्तर्निहित है। तुलनात्मक भाषाशास्त्र व तुलनात्मक वंशशास्त्र आदि आकर्षक नाम देकर इस वंशैक्य की कल्पना को सुसज्जित किया गया है।। ग्रीक, लेटिन ट्यूटोनिफ, केल्टिक स्लाव्होनिक व फारसी धर्मग्रंथ की भाषा जेंद में परस्पर सदृश प्रयोग व कुछ शब्द साम्य के आधार पर यूरोपीय अनुसन्धानकर्ताओं ने यह कल्पना की कि इन भाषाओं का एक संबंधित समूह है। इस समूह को उन्होंने 'इन्डो-यूरोपियन' नाम दिया। इस समूह की मूल भाषा अतिप्राचीन काल में एक ही रही होगी ऐसी कल्पना कर, उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि उस मूलभाषा के बोलने वाले लोग किसी एक मूलस्थान में रहे होंगे। संस्कृत, ग्रीक, लेटिन, जेंद, ट्यूटानिक, केल्टिक, स्लाव्होनिक इत्यादि भाषाएँ बोलने वालों के पूर्वज चूंकि मूलतः एक ही भाषा बोलने वाले तथा एक ही मूलस्थान के निवासी थे, अतः वे किसी एक ही मूलवंश के रहें होंगे; यह अनुमान स्वभावतः निष्पन्न हुआ व इन अनुमानजन्य कल्पनाओं (Tentative Suggestions) को शीघ्र ही सिद्धान्त का स्वरूप प्राप्त हुआ। मूलभाषा की कल्पना का पुरस्कार मेक्समुल्लर ने किया व उसने ही इस भाषा के बोलने वालों को आर्य शब्द से मिलता जुलता 'आर्यन्' नाम दिया। इस काल्पनिक 'आर्यन्' शब्द का 'आर्य' शब्द से संबंध जोड़कर आर्य अथवा आर्यन् नामक एक मूलवंश था यह कल्पना बद्धमूल हुई। वास्तव में, मूलभाषा एक ही थी इस कल्पना के जनक मेक्समुल्लर को यह बात बिल्कुल अमान्य है कि भाषाओं का एकत्व वंशैक्य सिद्ध करता है। मानववंशशास्त्रज्ञों (Anthropologists) को भी यह कल्पना पूर्णतः अमान्य है। भाषा एक होने के अनेकों कारण हो सकते हैं यथा, विजेता-विजित संबंध, सांस्कृतिक श्रेष्ठ-कनिष्ठत्व आदि। उससे वंशैक्य सिद्ध नहीं हो सकता। मेक्समुल्लर के आर्यन् शब्द का अर्थ केवल 'एक भाषाभाषी लोग' ही है। उसके द्वारा वंशैक्य

सिद्ध होता है यह बात स्वयं वह भी नहीं मानता। मेक्समुल्लर कहता है—

"Aryans are those who speak Aryan language, whatever their colour, whatever their blood. In calling them Aryans we predicate nothing of them except that the grammar of their language is Aryan. I have declared again and again that if I say Aryans I mean simply those who speak Aryan language. When I speak of them I commit myself to no anatomical characteristics. The blue eyed and the fairhaired Scandinavians may have been conquerers or conquered. They may have adopted the language of their darker lords or vice-versa. To me, an ethnologist who speaks of Aryan Races, Aryan blood, Aryan eyes and hair is as great a sinner as a linguist who speaks of a dolicho-cephalic dictionary or a brachycephalic grammar (i.e. long headed and short headed). As a matter of cold fact, and despite many opinions on the subject, we know very little racially about the ancient Indo-Europeans. We do not know whether they were one race or a mixture of types."

—"We Europeans"

(आर्य वे हैं जो आर्य भाषा बोलते हैं, भले ही उनका वर्ण व रक्त कोई भी क्यों न हो। उन्हें आर्य कहते समय हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि उनकी भाषा का व्याकरण आर्य है। मैंने बारम्बार यह कहा है कि जब जब मैं आर्य कहता हूँ तब तब उसका अर्थ केवल उन लोगों से है जो आर्य भाषा बोलते हैं। उनके बारे में बोलते समय मेरा उनकी शरीर रचना आदि से कोई संबंध नहीं रहता। नीले नयनों व भूरे गालों वाले स्कॅंडिनेविया के निवासी विजेता भी हो सकते हैं, विजित भी। उन्होंने अपने कृष्णवर्णीय विजेता लोगों की भाषा को अपनाया होगा या कृष्णवर्णीयों ने उनकी भाषा को अपनाया होगा। मेरी दृष्टि में आर्य वंश, आर्यों की नेत्र रचना व उनके बालों के विशिष्ट रंग के विषय में बोलने वाला मानव-वंशशास्त्रज्ञ उतना ही अपराधी है जितना लम्बशीर्षों का शब्दकोष या लघु-शीर्षों का व्याकरण बतलाने वाला भाषाशास्त्रज्ञ। इस विषय पर अनेक मतों के होते हुए भी कटु सत्य यही है कि प्राचीन इंडो-यूरोपियनों के वंश के बारे में हमारा ज्ञान अत्यल्प है। हम यह नहीं कह सकते कि वे एक ही वंश के थे या मिश्रवंश के।)

परन्तु मेक्समुल्लर के इस आक्रोश का कुछ भी परिणाम न हुआ व 'आर्यन्' को एक वंशात्मक लोकसंघ मानने की कल्पना यूरोपियन व यूरोपियनों का अनुकरण करने वाले अनुसंधानकर्ताओं के दिमागों में दृढ़ मूल हो गई। जिनको यह वंशैक्य की कल्पना असंभव प्रतीत होती थी उन्होंने इतना ही कहा कि वे एक भाषा-भाषी थे; परन्तु वे भी उनका मूलस्थान एक ही मानते थे। ऐसे लोगों ने 'आर्यन्' के स्थान पर 'इंडो जर्मानिक' (क्लापरोथ ई.स.१८३३), 'विरोस' (Wiros) (प्रो. रेप्सन), 'इंडो-यूरोपियन' (डॉ. थामस यंग) आदि भिन्न शब्दों का उन लोगों के लिए प्रयोग किया।

ये आर्यन् वंश के लोग व यूरोपियन लोग एक ही वंश के होने के कारण स्वभावतः ही आज के यूरोपियनों के समान श्वेतवर्णीय, सरल सीधी नाक वाले व नीले नयनों से युक्त होने चाहिए, ऐसा प्रतिपादन प्रारंभ हुआ व लोकमान्य तिलक के सिद्धान्तानुसार मूल ध्रुव प्रदेश में रहने वाले इन लोगों को हिमप्रलय के कारण अन्य भागों में फैलना पड़ा और जिन जिन भागों में वे गये उन उन भागों के मूलनिवासियों को जीतकर उन्होंने अपनी संस्कृति उन विजित लोगों पर लादी। यदि आर्य श्वेतवर्णीय थे तो यह सहज सिद्ध होता है कि जिनको उन्होंने जीता वे कृष्णवर्णीय होंगे। क्योंकि यह कल्पना कि इस जगत् में श्वेतवर्णीय स्वामी होने के लिए व कृष्णवर्णीय दास होने के लिए जन्मे हैं, यूरोपियनों के हृदयों में इतनी दृढ़मूल हो गई थी कि निष्पक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में भी उसका प्रभाव पड़ा व आर्यों के शत्रुओं को कृष्णवर्णीय ठहराया गया एवं उन्हें द्रविड़, असुर, दस्यु आदि नामों से संबोधित किया गया। कृष्णवर्णीयों द्वारा व्याप्त भारत पर श्वेतवर्णीय आर्यों ने अपना व अपनी संस्कृति का वर्चस्व स्थापित किया, यह बात इस प्रकार प्रतिपादित की जाने लगी मानों प्रत्यक्ष आँखों देखी हुई घटना हो।

डॉ० बागची, इलियट, डॉ० काल्डवेल, सर हर्बर्ट सिस्ले इत्यादि लोगों ने प्रतिपादित किया है कि हिंदुस्थान में आर्यों से भी प्राचीन काल के निवासी आस्ट्रिक व द्रविड़ियन थे व वे वर्ण में काले, लंबे सिरों वाले तथा चपटी व चौड़ी नाकों वाले थे। परंतु उनकी संस्कृति उच्च व भाषा समृद्ध थी, ऐसा उनका मत है। आगे चल कर मोहेंजोदड़ो के उत्खनन में जिस संस्कृति का दर्शन हुआ वह आर्य संस्कृति न होकर द्रविड़ियन संस्कृति थी और वह संस्कृति श्रेष्ठ थी ऐसा प्रतिपादित किया जाने लगा। लिपिशास्त्र के प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित किया गया कि ये द्रविड़ियन व सुमेरियन लोग एक ही थे। वास्तविक रीति से देखा जाय तो मोहेंजोदड़ो में प्राप्त सिक्कों पर संस्कृत नाम होने के कारण वहाँ की संस्कृति वैदिक ही थी, यह सहज सिद्ध होता है। परन्तु वहाँ जो कुछ प्राप्त हुआ है उसके आधार पर अनुमान लगाने का प्रयास

नहीं होता। पहले सिद्धान्त ठहरा लिये जाते हैं व उनके आधार पर फिर कल्पना की उड़ानें भरी जाती हैं। इस कारण अन्य अनेक बातों में वज्रलेप माने जाने वाले भाषाशास्त्र के प्रमाणों को एक ओर रखकर कपालमिति (Long-and-short-head measurement) सरीखे अविश्वसनीय शास्त्र के प्रमाणों द्वारा यह आग्रह रखा गया कि यह संस्कृति वैदिकों की थी ही नहीं। वड़ौदा के श्री दाजी नागेश आप्टे ने वड़े धैर्य के साथ प्रतिपादित किया है कि सुमेरियन व वैदिक संस्कृति एक ही थी; इतना ही नहीं, वंशदृष्टि से भी सुमेरियन लोग आर्य ही थे। परन्तु ज्योतिष, शब्दसाम्य, धार्मिक व पौराणिक कल्पनासाम्य के ऊपर आधारित उनका मत अनुसंधानकर्ताओं ने इस आधार पर अयुक्त माना है कि मोहेंजोदड़ो के उत्खनन की संस्कृति आर्य नहीं थी, वह सिंधु थी तथा वह और सुमेरियन संस्कृति एक ही थी। ऐसे ये आर्य जब हिंदुस्थान में आये उस समय उनके शस्त्रास्त्र कृष्णवर्णीय मूलनिवासियों के शस्त्रास्त्रों से श्रेष्ठ होने के कारण उन्होंने इन वनवासियों को जीता। इस वंशैक्य का, आर्यों के आक्रमण का व अनार्यों से हुए उनके संघर्ष का इतने विशाल प्रमाण में प्रचार हुआ है कि लोकमान्य तिलक सरीखे स्वतंत्र प्रतिभाशाली व्यक्ति भी इस कल्पना की परीक्षा किये बिना ही उनके शिकार हो गये। अपने 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़्' नामी विख्यात ग्रंथ में लोकमान्य ने भाषासाम्य के आधार पर अनुमोदित वंशैक्य की कल्पना को मान्य किया है। स्वतंत्र प्रतिभा होते हुए भी उन्होंने इस बात की स्वतंत्र परीक्षा नहीं की, यह बड़े दुर्भाग्य की बात है। आधुनिक ऐतिहासिक अनुसंधानकर्ताओं में केवल ज्ञानकोशकार डॉ० केतकर ने ही इस कल्पना की परीक्षा करने का धैर्य दिखाकर उसका वृथापन सिद्ध किया है। डॉ० केतकर कहते हैं—

"आर्य शब्द के मोह में पड़कर यूरोपियन लोग वह शब्द स्वतः के लिए प्रयुक्त करने लगे व इस कारण उस शब्द के अनेक अर्थ उत्पन्न हुए। इस बात की ओर ध्यान न देने के कारण असावधान पाश्चात्य व भारतीय लेखकों ने 'आर्यन्' को संस्कृत शब्द 'आर्य' का रूपान्तर मात्र समझ लिया तथा वे वैदिक शब्द 'आर्य' का 'आर्यन्' या अंग्रेजी 'अर्यन्' शब्द का 'आर्य' ऐसा भाषान्तर करने लगे। किन्तु यह समझ त्रुटिपूर्ण है। 'आर्य' का 'आर्यन्' अर्थ करना उस शब्द के भारतीय उपयोग से दूर जाना है। फिर भी वेदों के 'आर्य' शब्द के अर्थ में यूरोपियनों का 'अर्यन्' शब्द ठूंसने का प्रयत्न हो रहा है। यूरोपीय लेखकों ने जो कल्पना-परम्परा उत्पन्न की है वह इस प्रकार की है; 'अत्यंत प्राचीन अर्थात् मंत्रकाल में कुछ लोग हिंदुस्थान में आये। वे गोरे थे। वे अपने को 'आर्य' कहते थे। जिनसे वे लड़े वे काले थे। उन्हें वे 'दस्यु' कहते थे। उन दस्युओं से आर्यों ने देश जीता।' यह इतिहास किस प्रकार का होगा इसकी मनोरम कल्पना तैयार कर पाश्चात्य

अनुसंधानकर्ताओं ने इतिहास को पर्याप्त सरल बना दिया है तथा यह निष्कर्ष निकाला है कि आर्यों द्वारा पराभूत मूलनिवासियों अर्थात् द्रविड़ों को दस्यु आदि विशेषण लगाये जाते थे। 'रंगभेद के कारण द्वेष अत्यंत स्वाभाविक है' इत्यादि सिद्धान्तों को जन्म देने वाले तथा वर्णद्वेष का समर्थन करने के इच्छुक को वेदार्थ-कारों की वेदार्थ करते समय खर्च की गई कल्पना-शक्ति का अच्छा उपयोग हुआ है। और चूँकि काले वर्ण के कारण हिन्दुस्थान के लोगों का गोरों के सामने मान-भंग होता है; इस कारण इस भावना से प्रेरित होकर कि हमारे नेतृत्व को कहीं कोई आधार मिल जाय व हम विजेताओं में ही नहीं, अपितु गोरों के संग भी उठ बैठ सकें, हिन्दुस्थान के सुशिक्षितों ने 'हमारे पूर्वज आर्य याने आर्यन् थे, यूरोपियन लोगों से संबद्ध जो लोग थे वे आर्य व उन्होंने जिन काले लोगों को जीता वे दस्यु' इत्यादि कल्पनाओं का बड़े आनंद से स्वागत किया। यूरोपीय कल्पना इस प्रकार की है—(१) वैदिक साहित्य जिन लोगों ने उत्पन्न किया वे एक विशिष्ट मानववंश के थे। (२)आर्य उनका सामूहिक नाम था जो जाति-वाचक था (३) दस्यु नाम के लोग भिन्न जाति के थे। (४) वे काले थे। (५) उन काले दस्यु व गोरे आर्य लोगों के सन्निकर्ष से जातिभेद उत्पन्न हुआ। (६) वर्ण याने जाति। (७) वर्ण का मूल अर्थ है रंग। (८) रंग का अंतर ही जातिभेद अर्थात् चातुर्वर्ण्य का मूल है। ये कल्पनायें खूब प्रचलित हैं। ये कहाँ तक ठीक हैं इसकी परीक्षा करने की रीति पाश्चात्य तथा भारतीय अनुसंधानकर्ताओं में बिलकुल भी नहीं है। इन कल्पनाओं के कारण यूरोपीय तथा भारतीय ब्राह्मण दोनों को ही लाभ होता है, फिर खंडन ही कोई क्यों करे? इस प्रकार की मनोरचना सत्यानुसंधान के मार्ग में पर्याप्त विघ्न उपस्थित कर रही है।"[१]

आर्यों का मूलस्थान अथवा वैदिक साहित्य में जिन लोगों का जीवन प्रतिबिंबित हुआ है उन हमारे पूर्वजों का मूलस्थान कौन सा है, यह निश्चित करने के पूर्व 'आर्य' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है तथा वह वंशवाचक है या नहीं इसका परीक्षण करना व द्रविड़, दस्यु, आक्रमण आदि कल्पनाओं का सूक्ष्म विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी दृष्टि से अगले अध्याय में पहले इन बातों का विचार कर फिर हम अपने पूर्वजों के मूलस्थान का विचार करेंगे।

---

१. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश भाग-३, पृष्ठ २७-२८

४

आर्य व अनार्य की परिभाषा

वैदिक साहित्य में 'आर्य' शब्द अनेक बार आया है, परन्तु कहीं भी उसका उपयोग वंशवाचक के नाते हुआ हो ऐसा नहीं बताया जा सकता । इस कारण 'आर्यन् वंश' की यूरोपीय कल्पना केवल ढोंग सिद्ध होती है । निदान यूरोपीय अनुसंधानकर्त्ताओं के कल्पना-साम्राज्य के 'आर्यन् वंश' से उन लोगों का तो कतई संबंध नहीं है, जिनका जीवन वैदिक साहित्य में प्रतिबिंबित हुआ है । मेक्समुल्लर सरीखे भाषाशास्त्रज्ञ व अन्य मानववंशशास्त्रज्ञों के ही मतानुसार भाषा की एकता से वंशैक्य सिद्ध नहीं हो सकता और इसलिए वैसा मानना निरी लबाड़ी व धूर्तता है । सो कैसे? इसका विचार हम गत अध्याय में कर ही चुके हैं । इस प्रकार वंशैक्य सिद्धि के कार्य में भाषाशास्त्र के प्रमाणों की असफलता के पश्चात् अन्य प्रमाणों की ओर दृष्टिक्षेप करने के पूर्व सबसे अधिक ठोस समझे जाने वाले साहित्यिक प्रमाणों का परीक्षण करना अधिक उद्बोधक होगा । साहित्यिक प्रमाण याने प्रत्यक्ष वैदिक साहित्य के प्रमाण । वैदिक साहित्य में 'आर्य' शब्द अनेक बार आता है, परंतु वह किस अर्थ में प्रयुक्त होता है यह देखना आवश्यक है ।

वैदिक साहित्य में 'आर्य' व 'दस्यु'

'आर्य' व 'दस्यु' ये दोनों ही शब्द ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं, परंतु दोनों ही वंशवाचक नहीं हैं । आज की इतिहास संबंधी पुस्तकें इसी ढंग से लिखी गई हैं, जिससे वैदिक साहित्य से अपरिचित व्यक्ति यही समझे कि 'आर्य' व 'दस्यु' दो स्वतंत्र मानववंश थे तथा वे एक दूसरे से सदैव युद्ध-रत रहते थे । परन्तु यह सब मिथ्या कल्पना-जाल है । सर्वप्रथम तो ऋग्वेद में अधिक युद्ध ही नहीं हैं; जो हैं वे देवताओं के हैं । उन युद्धों में उल्लेखनीय है दाशराज्ञ युद्ध । परन्तु वह युद्ध दस्यु व आर्य मानववंशों के बीच नहीं हुआ । यूरोपीय अनुसन्धानकर्त्ताओं ने वैदिक साहित्य में 'आर्य' शब्द देखा तथा कुछ स्थानों पर वह उन्हें दास या दस्यु के विरोधी के रूप में दिखाई दिया । केवल पंजाब की कुछ नदियों के नामसादृश्य के सहारे उन्होंने सहज ही कल्पना कर ली कि सारी मंत्र-संहिता पंजाब में रची गई । फिर उन्होंने इस आधार पर कि आर्य एक

मनुष्य जाति है व उसका अस्तित्व पंजाब में दिखाई देता है, यह निष्कर्ष निकाला कि वह जाति अवश्य ही देश-प्रवेश करती होगी। इस देश-प्रवेश करने वाली जाति का स्वाभाविक रीति से विरोध करने वाले दस्यु या दास भारत के मूल निवासी होंगे, ऐसा उन्होंने अपना दूसरा अनुमान स्थिर किया। परन्तु जिस प्रकार वेदों के द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि आर्य नवप्रवेश करनेवाली जाति का नाम था, उसी प्रकार यह भी वेदों के सहारे सिद्ध नहीं होता कि दस्यु या दास नाम की कृष्णवर्ण की जाति ने अथवा इसी प्रकार की अन्य किसी आदिवासी जाति ने हिंदुस्थान में वास किया था व उस जाति को जीतकर आर्यों ने हिन्दुस्थान को पादाक्रान्त किया। आजकल इतिहास के नाम पर इस प्रकार का जो ज्ञान दिया जाता है व जिसे आँख मूँदकर ग्रहण कर लिया जाता है, वह निरा अंधानुकरण मात्र है। आर्य व दस्यु का वंशवाचक अर्थ निकालने के पूर्व डॉ० केतकर द्वारा सुझाई गई कुछ कसौटियों का विचार करना आवश्यक है। ये कसौटियाँ सभी को मान्य होंगी। वे कहते हैं :

"१. आर्य व दस्यु शब्दों के परामार्थिक अर्थ बताने वाले उद्धरण उपयोगी नहीं। २. आर्य शब्द का अर्थ समाज का सभ्य वर्ग बताने वाले उद्धरण उपयोगी नहीं। ३. जिनमें आर्य को वर्ण कहा हो व वर्ण शब्द का अर्थ वर्गवाचक होने की संभावना न हो वे उल्लेख उपयोगी नहीं। ४. 'दस्यु शत्रुओं का संहार' इस प्रकार के विधान में रूपक न हो।"[1]

ऋग्वेद व अथर्ववेद में आने वाले 'आर्य' शब्द के समस्त उल्लेख यदि उपर्युक्त कसौटियों पर परखे जायँ तो किसी भी स्थान पर आर्य, दस्यु या दास शब्द वंशवाचक न मिलेगा। इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि दस्यु लोग आर्यवंश के शत्रु थे तो ऋग्वेद और अथर्ववेद में सूक्तकारों के ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें आर्य व दस्यु दोनों को शत्रु कहा गया है तथा उन्हें जीतने की इच्छा व्यक्त की गई है।

ऋग्वेद व अथर्ववेद के ये दो मंत्र देखिये—

"यस्ते मन्योऽविधद् वज्रसायक सहः ओजः पुष्यति विश्वानुशक् सह्याम दासमार्यं त्वया युजा (वयं) सहस्कृतेन सहसा सहस्वता।"

(ऋग्वेद १०-८३-१, अथर्व० ४,३२,१)

"हे मन्यु, जो कोई तेरी आराधना करता है उसे तू सर्वविजयी शक्ति देता है; तेरी सहायता से हम शत्रुरूप आर्य व दस्यु दोनों को जीतेंगे।" इस ऋचा में आर्यों को भी शत्रु समझकर उन्हें जीतने की जो इच्छा व्यक्त की गई है, उसका विचार करने पर भारतप्रवेश करनेवाले व दस्युओं के विरुद्ध खड्ग धारण करने वाले आर्यवंश की कल्पना ही निराधार सिद्ध हो जाती है।

---

१. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश भाग-३ पृष्ठ-२६

आसमंतमिन्द्रणः स्वस्ति शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम ।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्सुतुकानाहुषाणि ॥

"हे इन्द्र! तू हमें शत्रुनाश के लिये विपुल व न समाप्त होने वाली शाश्वतसंपत्ति दे, जिसके द्वारा दास आर्य हो जावें तथा शत्रुत्व करने वाले संबंधी मारे जावें।" यदि आर्य शब्द विशिष्टवंश व विशिष्ट रक्त के लोगों का द्योतक होता तो दास वंश के लोगों का आर्य वंश में आना कैसे संभव होता? चूंकि दास आर्य हो सकते थे, इस कारण यह स्पष्ट है कि 'आर्य' शब्द ऋग्वेद में गुणवाचक है, वंशवाचक नहीं तथा वंश की कल्पना कपोलकल्पित है। उसी प्रकार उनके नीले नयन, श्वेत वर्ण आदि की समस्त कल्पनाएं भी निराधार सिद्ध होती हैं। क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद की एक शाखा का प्रमुख आचार्य कण्व आर्य होकर भी वर्ण से काला था, ऐसा ऋग्वेद के दशममंडल के इकतीसवें सूक्त में वर्णित है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य संस्कृति का मनुष्य भी काला हो सकता है। कण्व को दास या द्रविड़ भी नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद में आर्य व दास दोनों को जीतने की इच्छा एक स्थान पर ही नहीं, अनेक स्थानों पर व्यक्त हुई है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित उद्धरण देखिये—

यो नो दास आर्यो वा पुरुष्टुतादेव इंद्र युधये चिकेताति ।
अस्माभिष्टे सुषहाः सन्तु शत्रवस्त्वया वयं तान्वनुयाम संगमे ॥

(ऋ० १०-३८-३)

"हे बहुस्तुत इंद्र, जो अधार्मिक दास अथवा आर्य हमसे युद्ध करेंगे वे हमारे शत्रु तेरे प्रसाद से सरलता से जीते जा सकें। तेरी सहायता से युद्ध में हम उन्हें मारेंगे।"

हतो वृत्राण्यार्याहतो दासानि सत्पती । हतो विश्वा अपद्विषः ।

(ऋ. ६-६०-६)

"ये सत्पालक इंद्राग्नि हमारा विरोध करने वाले आर्य व दासों को मारते हैं व हमारे समस्त शत्रुओं का नाश करते हैं।"

यहाँ पर 'आर्यवृत्र' का सायण का अर्थ 'आर्यरूपी शत्रु' ग्रिफिथ को भी मान्य है। परन्तु ग्रिफिथ को यज्ञसंस्कृति की यथेष्ट कल्पना न होने के कारण इन शत्रुओं का स्वरूप ज्ञात नहीं है। सायणाचार्य द्वारा किया गया इस शब्द का विश्लेषण उसके अर्थ को पूर्ण रूप से प्रगट करता है। वे कहते हैं :—

"आर्यावृत्राणि आर्यैः कर्मानुष्ठातृभिः कृतानि उपद्रवजातानि ।"

"आभिचारिक आदि कर्मों की सहायता से यजमान को तंग करने वाले लोग।" पुराण साहित्य में इस बात के कथारूप में अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं

तथा इन सब उल्लेखों का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आर्य' शब्द वंशवाचक या जातिवाचक न होकर गुण व कर्मवाचक है तथा उसका अर्थ 'सभ्य' या 'अभिजन' होता है। ऋग्वेद में यह शब्द ३३ स्थानों पर आया है व अथर्ववेद में १६ स्थानों पर, जिनमें से सात स्थानों पर ऋग्वेद के मंत्रों का ही पुनरुल्लेख हुआ है। आधुनिक अनुसन्धानकर्ताओं के लिए ऋग्वेद ही सबसे प्राचीन मान्यग्रंथ होने के कारण ऋग्वेद के उल्लेखों का परीक्षण ही पर्याप्त होगा। ऋग्वेद में यह शब्द स्वामी, देव, विद्वान्, स्तोता, उपासक, यजमान, शुभ (कृण्वन्तो विश्वमार्यम्), प्रेरक तेज (ज्योतिः आर्यम्), मित्र, कर्मशील लोग, अनुष्ठाता आदि अर्थों में तथा अथर्ववेद में भी यजमान आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। डॉ० केतकर द्वारा निर्देशित कसौटियों पर कसकर यदि इन शब्दों का अर्थ देखा जाय तो इस शब्द का गुणवाचक होना स्पष्ट हो जाता है। आर्य शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ। प्रारम्भ में वह यजनशील वर्ग अथवा यज्ञ करने वाले लोगों का नाम था; कालान्तर में वह सभ्य अथवा श्रेष्ठ के अर्थ में रूढ़ हुआ दिखाई देता है। डॉ० केतकर ने स्वयं का निर्णय कहकर यह बताया है कि आर्य व दस्यु का भेद यजनविषयक था। मंत्र कहने वाले लोगों के जो शत्रु थे, उनमें यजनशील भी थे और यजनहीन भी। दस्यु शब्द का जातिविषयक अथवा वंशविषयक अर्थ रूढ़ नहीं था। उसका पारमार्थिक अर्थ ही रूढ़ हुआ दिखाई देता है। आर्य याने विशिष्ट प्रकार से यजन करने वाले लोग। आर्यन् का वह अर्थ नहीं है। देश में चलने वाली हलचलों में आर्य भी हैं। काले भी हैं, गोरे भी हैं।

बाहर के आर्य लोगों ने देश में स्थित काले लोगों को जीता, यह कल्पना जिन प्रमाणों के आधार पर उत्पन्न की गई है; उनमें से 'वर्ण' शब्द का प्रमाण वहुधा उपस्थित किया जाता है। इस प्रमाण को ग्राह्य मानने का कारण है समाज के चार वर्णों को 'वर्ण' कहना व इन चार समाजवर्गों का विभाजन चमड़ी के रंग के आधार पर मानना। परन्तु इस बात को ग्राह्य मानने में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि वर्ण चार हैं और रंग दो ही। यदि गोरे व काले ये दो ही वर्ग रहे होते तो बात दूसरी थी। आर्य नाम केवल यजनशील लोगों का ही नहीं अपितु यजनशील के अतिरिक्त त्रेसठ या चौंसठ वर्णों की सिद्ध भाषा बोलने वाले लोगों का भी था; यह बात आर्यों द्वारा प्रतिपक्षियों की जिन कारणों से निंदा की गई है उनसे स्पष्ट होती है। असुरों का वर्णन करते समय, उन्हें 'र' अक्षर का उच्चारण नहीं आता था 'हेलयोऽहेलयः' चिल्लाने वाले लोग पराजित हुये, वे व्यक्तिवादी व प्रेतपूजक थे इत्यादि बातों का जो उल्लेख किया जाता है उसे देखने पर, उनके अतिरिक्त दूसरे विशिष्ट प्रकार की उच्च संस्कृति के लोग तथा त्रेसठ या चौंसठ वर्णों की

भाषा बोलने वाले 'आर्य' कहलाते थे, यह स्पष्ट हो जाता है। कहना न होगा कि ऋग्वेदीय लोगों को अपनी भाषा का विलक्षण अभिमान था।

दास, असुर व द्रविड

'आर्य' शब्द के इस अर्थ को देखने के पश्चात् जिन असुर, दास व द्रविड लोगों को आर्यों का प्रतिपक्षी बताया जाता है वे कौन थे, यह देखना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। द्रविड नाम की कोई जाति थी यह तो माना जा सकता है, किंतु द्रविड नाम की कोई भिन्न संस्कृति थी यह नहीं बताया जा सकता। हिन्दुस्थान सरकार के पुरातत्व विभाग के सुपरिटेंडेंट रायबहादुर दयालाल साहनी ने ई० सन् १९२१ में पंजाब के मिंटगुमरी जिले के हड़प्पा नामक गाँव में कुछ पुरानी मुद्राएं तथा रंगीन बर्तन खोज निकाले। उसके तुरंत पश्चात् ही पश्चिम विभाग के पुरातत्व अधिकारी आर०डी० बनर्जी को सिंध प्रान्त के लरकाना जिले में मोहेन्जोदड़ो नामक स्थान पर बुद्धस्तूप के कुछ अवशेष दिखाई दिये। उसे खोदने पर उसके नीचे उसी प्रकार की कारीगरी दिखाई दी। इस कारण हिंदुस्थान सरकार के पुरातत्व विभाग के डायरेक्टर सर जॉन मार्शल की देखरेख में दोनों ही स्थानों का उत्खनन कार्य प्रारम्भ हुआ। यह कार्य ई० सन् १९२२ से १९२७ तक चालू रहा। इस उत्खनन के पश्चात् सर जॉन मार्शल ने 'Mohenjodaro and Indus Valley Civilisation' नाम का एक प्रचंड ग्रंथ तैयार किया जो ई० सन् १९३१ में प्रसिद्ध हुआ। इस सिंधु नदी घाटी के अनुसंधान में जो अनेक वस्तुएं प्राप्त हुईं, उनमें से कई वस्तुओं का प्राचीन सुमेरिया के कुछ नगरों के अवशेषों में प्राप्त वस्तुओं से पूर्ण साम्य दिखाई दिया व केवल उसके आधार पर अनुसन्धानकर्ताओं ने एक प्रचंड ग्रंथ का निर्माण किया। अवशेषों से ज्ञात होता है कि सिंधुघाटी के लोगों को नगर रचना का पूर्ण ज्ञान था। मोहेंजोदड़ो एक शहर ही था। उसके अवशेषों में प्राप्त होने वाले रास्ते अत्यंत सरल, प्रशस्त व पूर्वाभिमुख हैं। बड़े बड़े घर, सार्वजनिक भवन, पाकशालाएं, स्नानगृह आदि सब पानी लाने व स्वच्छ करने की उत्कृष्ट व्यवस्था सहित तपाये हुए ईंटों से बने हुए हैं तथा उनमें चूने के गारे का प्रयोग किया गया है। यही नहीं, वहाँ धूप-स्नान की व्यवस्था भी है। ऐसा लगता है कि इन लोगों की चित्रलिपि रही होगी। परन्तु उसके साथ ही वहाँ कुछ अक्षर लेख भी प्राप्त हुए हैं और वे संस्कृत भाषा के हैं। इस से प्रो० लेंग्डन का यह मत हुआ कि भारत की देव नागरी आदि लिपियाँ जिस मूल ब्राह्मी लिपि से निकलीं वह इस सिंधु संस्कृति की लिपि से निकली होगी। उत्खनन में पृथ्वी देवता के चित्र, योगासनस्थ शिवमूर्ति तथा वृक्षपूजा, लिंगपूजा आदि दिखाई देते हैं। लिपि के आधार पर अनुसंधानकर्ताओं ने इन लोगों का सुमेरियन लोगों से साम्य कल्पित किया है। हड़प्पा तथा यहाँ की संस्कृति एक ही है। अनुसंधानकर्ताओं के अनुसार इस

संस्कृति का वैदिक संस्कृति से नहीं, अपितु सुमेरियन संस्कृति से साम्य है तथा कुछ अंशों में यह संस्कृति सुमेरियन संस्कृति से भी श्रेष्ठ मानी गई है। श्री काशीकर ने यह मत व्यक्त किया है कि सिंधु घाटी की संस्कृति द्रविडियन है तथा द्रविडियन और सुमेरियन लोग एक ही वंश के थे। किंतु जब पूछा जाता है कि आखिर इस के लिए आधार क्या है तो पुनः कल्पित अनुमानों की वही शृंखला सामने रखी जाती है जिनका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। हमें बताया जाता है कि आर्यों की द्रविड़ों से भेंट हुई। वे दस्यु लिंगोपासक थे ; इसके लिए ऋग्वेद में 'शिश्नदेवाः' शब्द आया है। मोहेंजोदड़ों की वस्ती में लिंगमूर्ति प्राप्त होती है इस कारण वहाँ की संस्कृति लिंगोपासक द्रविडों की ही संस्कृति होनी चाहिए और चूंकि वह उच्च स्तर की प्रतीत होती है इस कारण द्रविडियन श्रेष्ठ संस्कृति संपन्न लोग थे, यह सहज ही सिद्ध होता है। परन्तु द्रविडियन व सुमेरियन भी एक ही वंश के थे, यह आखिर किस आधार पर ? वंशशास्त्रज्ञों का कथन है कि दोनों लोगों की कपालमिति (Ciphalic indexes) और शरीरयष्टि (Anatomy)एक ही है। इसके अतिरिक्त चित्रलिपि के साम्य का उल्लेख पहले हुआ ही है। परन्तु इन सब कल्पनाओं का परीक्षण करने पर उनमें बड़ी विलक्षण विसंगतियाँ दिखाई देती हैं। ऋग्वेद के जिस 'शिश्नदेव' शब्द के आधार पर यह कहा जाता है कि दस्यु लिंगपूजक थे व सिंधु संस्कृति के लोग भी लिंगोपासक होने के कारण द्रविड संस्कृति के थे, वह आधार ही मूलतः पंगु है। ऋग्वेद में शिश्नदेव शब्द का अर्थ लिंगोपासक नहीं, स्त्रैण है, इसका यदि हम विचार करें तो इस अनुमान का आधार ही लड़खड़ा जाता है।

ऋग्वेद में, शिश्नदेव,

ऋग्वेद में दस्युओं का वर्णन, अदेवयुः, अयज्वन्, अव्रत, अकर्मन्, अन्यव्रत, मुरदेव, अनास, पिशङ्गभृष्टि, मृध्रवाच, विवाच, द्रोघवाच, शिश्नदेव, क्रव्याद आदि शब्दों द्वारा किया गया है। इनमें से 'देव न मानने वाले', 'यज्ञ-याग न करने वाले', 'दूसरे देवताओं की उपासना करने वाले' इत्यादि अर्थों के बारे में जहाँ मतभेद नहीं हैं वहाँ 'मुरदेव', 'अनास', 'शिश्नदेव' आदि शब्दों के बारे में मन चाहे तर्क लगाकर भिन्न-भिन्न अर्थ उपस्थित किये गये हैं। जैसे, मुरदेव का अर्थ 'जिनका देव मूढ़ था', 'अनास' याने बिना नाक का; किंतु बिना नाक का मनुष्य उपलब्ध होना संभव न होने के कारण चपटी नाक का व 'शिश्नदेवाः' याने लिंगपूजक माना गया है। इस प्रकार के अर्थ लगाकर आधुनिक अन्वेषकों ने द्रविड अथवा दस्युओं की उपासनापद्धति की खोज करने का तथा उनकी शरीर-रचना व वर्ण बतलाने का प्रयत्न किया है। 'पिशङ्गभृष्टि' के आधार पर उन्हें कृष्णवर्णीय कहा गया है, किंतु इसमें विशेष

तात्पर्य नहीं क्योंकि ऋग्वेद में कण्व ऋषि के उदाहरण के द्वारा पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि आर्य भी काले होते थे। इस कृष्ण वर्ण के आधार पर कृष्णयजुर्वेद व शुक्लयजुर्वेद में वर्ण के कारण होने वाले झगड़ों के बारे में मनचाहे तर्क लगाकर श्री वि०का० राजवाडे ने अपने 'राधामाधवविलास-चंपू' नामक ग्रंथ में इतिहास के नाम पर एक उपन्यास ही लिख डाला है। किंतु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि अनेक बार शुक्ल व कृष्ण शब्द लोगों के वर्णों का द्योतक न होकर श्रेष्ठ और कनिष्ठ अथवा विशिष्ट दो पक्षों के लिए प्रयुक्त होता है। काशगर प्रान्त में लड़ाई के समय एक ही जाति के लोगों को उनके पक्षानुसार कृष्ण व श्वेत कहा जाता था। क्रोपाटकिन के 'कांगरिया' नामक ग्रंथ में तार्तार लोगों के संबंध में ऐसा कहा गया है कि, "उसी वंश के दो पक्षों के तार्तारों को श्वेत व कृष्ण की संज्ञा दी जाती थी।" (The opposing Tartars of same race were called the white and Black mountaneers.) उपर्युक्त ऐतिहासिक उल्लेख यही सूचित करता है कि 'कृष्ण' शब्द को चमड़ी के रंग का द्योतक मानने पर जोर देना विशेष अर्थ नहीं रखता। श्री राजवाड़े ने तो अपनी आधारहीन पद्धति के सहारे कृष्णयजुर्वेदीय लोगों को संकरसंतति तक कहने में कोई कसर उठा नहीं रखी है। गुरुवर्य अप्रबुद्ध ने उसकी व्यर्थता बताते समय कटु भाषा का प्रयोग अवश्य किया है किन्तु बिना उसके इस तर्क का पोलापन प्रभावी ढंग से मन पर अंकित नही किया जा सकता। श्री अप्रबुद्ध कहते हैं, "पूना में पहले राजे श्री गोपालराव जोशी के कुचक्र से चाय का प्रकरण उपस्थित हुआ जिसमें पूना की ब्राह्मणमंडली में श्वेत व कृष्ण दो भेद पड़ गये। उन लोगों में बहुत से लोग कोकणस्थ थे। उनमें लोकमान्य तिलक कृष्ण पक्ष में थे यह प्रसिद्ध ही है। यह सारा वृत्तान्त परम्परा से ग्रन्थनिविष्ट होते हजारों वर्षों के पश्चात् इतना पूर्ण नहीं रहेगा यह स्पष्ट है। (जहाँ तक इस दृष्टान्त का प्रश्न है वह अधिक समर्पक नहीं है यह पाठकों को ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि अत्यन्त प्रगत मुद्रणकला के कारण आजकल के साहित्य को सुव्यवस्थित रूप प्राप्त हो गया है और इसलिए हजारों वर्षों के पश्चात् भी साहित्य में कोई परिवर्तन होने की संभावना नहीं परन्तु जिस काल का हम परीक्षण कर रहें हैं उस काल में ऐसी स्थिति नहीं थी यह ध्यान में रखना आवश्यक है।) तब यदि किसी अन्वेषक ने कहा कि यह सारा झगड़ा वंश-विषयक था तथा गोरी चमड़ी व भूरी आँखों वाले कोकणस्थ जब देश में आये तब साँवले व कृष्णवर्ण के देशस्थों से उनका संबंध हुआ और मिश्र संतति की उत्पत्ति हुई, लोकमान्य तिलक कृष्ण पक्ष के थे इसका प्रबल प्रमाण यह है कि उनका वर्ण काला था तथा उन्होंने आजन्म कभी चश्मा ही नहीं लगाया, तो

उस अन्वेषक को हम क्या कहेंगे और उसके उस कथन को कहाँ तक युक्तिसंगत मानेंगे।"

जो हाल 'कृष्ण' शब्द का है वही 'अनास' शब्द का भी है। 'अनास' का अर्थ चपटी व चौड़ी नाक बताकर यदि कोई कहे कि यह द्रविडों व दस्युओं के स्वरूप का वर्णन है, तो हम देखते हैं कि ऋग्वेद में ऐसे भी उद्धरण हैं जिनमें आर्यों व दस्युओं के शरीरों की समानता का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल में **"विजानीत् ह्यार्यान्ये च दस्यवः"** कहकर इंद्र की प्रार्थना की गई है। इसमें 'अन्ये' और 'विजानीत्' शब्दों से स्पष्ट दिखता है कि आर्यों व दस्युओं के शरीरों में साम्य था तथा भिन्नता दर्शाने लायक उनकी शरीर रचना में विशेष कुछ भी नहीं था। इस कारण 'अनास' याने, चपटी नाक व सारे द्रविडों को चपटी नाक वाला मानना उचित नहीं दिखाई देता। वैदिकों का अपनी त्रेसठ या चौंसठ वर्णों की सिद्ध भाषा का ज्वलन्त अभिमान, असुरों को 'र' का उच्चारण न बनने के कारण, अर्थात् इन सब वर्णों के उच्चारण में उनकी अपात्रता के कारण वैदिकों द्वारा दिये गये विवाच, द्रोघ-वाच आदि विशेषण, इन सबके प्रकाश में 'अनास' शब्द का विचार किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से श्री अप्रबुद्ध द्वारा सुझाया गया 'अनास' शब्द का 'जिनकी भाषा में अनुनासिक नहीं' यह अर्थ ही विचारवन्तों को अधिक ग्राह्य होगा। ऐसा ही हाल 'शिश्नदेव' शब्द का भी है।

अर्वाचीन अन्वेषकों ने अपने मन में पहले यह स्थिर कर लिया कि दस्यु या द्रविड वंश था व उसकी एक स्वतंत्र संस्कृति थी और फिर वे **'शिश्नदेवाः'** विशेषण का विचार करने चले, जिसका उन्होंने 'लिंगपूजक' अर्थ किया। किंतु इस अर्थ को पारम्परिक अर्थ का किंचित् भी आधार नहीं है। यास्क सरीखे प्रमाणभूत निरुक्तकार ने **'अब्रह्मचर्याः शिश्नेन दीव्यन्ति इति'** अर्थात् 'कामी' व 'अनियन्त्रित कामोपभोग के पीछे दौड़नेवाला व्यभिचारी स्त्रैण' ऐसा शिश्नदेव का अर्थ किया है। यास्क को यज्ञक्रिया का पूर्ण ज्ञान होने के कारण उसके द्वारा दिया गया यह अर्थ औचित्यपूर्ण है। इसके विपरीत, जिस प्रकरण में 'शिश्नदेव' शब्द आया है उस प्रकरण की दृष्टि से उसका 'लिंगपूजक' अर्थ समीचीन नहीं प्रतीत होता। सन् १९३० में पटना में हुई छटवीं प्राच्य विद्या परिषद् की बैठक में प्रिंसिपल विधुशेखर भट्टाचार्य ने जो निबन्ध पढ़ा उसमें उन्होंने बताया कि "प्राचीन संस्कृत में 'देव' शब्द को दूसरे शब्द से जोड़ने पर उसका अर्थ 'पूजक' नहीं होता, 'तत्पर' या 'परायण' होता है जैसे, मातृ-देव, पितृदेव आदि। पुराणसाहित्य में एक शब्द 'स्त्रीदेव' भी है जिसका अर्थ है 'स्त्रीपरायण'। 'शिश्नदेव' शब्द का अर्थ भी 'शिश्नपरायण' किया जाना चाहिए।" इस प्रकार उन्होंने सायण के पारम्परिक अर्थ की उपयुक्तता को

उत्कृष्ट रीति से प्रतिपादित किया। इस पर टीका करते हुए व 'शिश्नदेव' याने 'लिंगपूजक' इस पाश्चात्य तर्क का समर्थन करते हुए श्री काशीकर कहते हैं: "परन्तु मातृदेव, पितृदेव आदि शब्दों में 'देव' शब्द का अर्थ 'तत्पर' ही मानना चाहिए, उसका 'पूजक' या बहुव्रीहि समास से प्राप्त होने वाला अर्थ मानना ठीक नहीं, यह निर्बंध नितान्त अनुचित है। दूसरी बात यह है कि जिस मंत्र में 'शिश्नदेवा:' शब्द आया है उस मंत्र के अर्थ से 'तत्पर' अर्थ मेल नहीं खाता। यह शब्द ऋग्वेद में दो स्थानों पर आया है।

न यातव इंद्र जूजुकर्नो न वंदनाशविष्ठ वेद्याभिः।
स शर्धदर्यो विषुणस्य जंतोर्माशिश्नदेवा अभिगुर्ऋतं नः॥

इस मंत्र के पहले तीन चरणों से 'शिश्नदेवा:' शब्द का कोई संबंध नहीं है। अंतिम चरण का अर्थ है कि 'लिंगपूजक हमारे यज्ञ में न आवें।' यह अर्थ न लेकर यदि यह अर्थ लिया जाय कि 'शिश्नपरायण या कामी लोग हमारे यज्ञ में न आवें,' तो उससे क्या बोध होगा? कामुक लोग हमारे यज्ञ में न आयें, यह कहने का अर्थ ही क्या है? उसी प्रकार,

सवाजं याता पष्टुपदा यन्त्स्वर्षाता परिषदत्सनिष्यन्।
अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदोघ्नञ्छिश्नदेवा अभिवर्पसाभूत्॥

ऋ० १०-९९-३

(संग्राम में जाने वाला इन्द्र शत्रुओं का धन लूटता है। सौ द्वार वाले शत्रुपुर में लिंगपूजकों को मारकर अप्रतिहत इन्द्र शत्रुओं के नगर के धन को बलात्कार से जीतता है।)

'शिश्नदेवा:' का अर्थ 'अब्रह्मचर्या:' मानकर, अब्रह्मचारी लोगों को इन्द्र मारता है ऐसा यदि उस वाक्य का अर्थ किया जाय तो उसमें से क्या निष्पन्न होगा? कामुक लोगों को इन्द्र मार डालता है ऐसा कहाँ कहा गया है? ऐसे कथन का तात्पर्य ही क्या है? इसके अतिरिक्त, यह भी ध्यान देने योग्य है कि ये दोनों मंत्र राष्ट्रदेवता इन्द्र को लक्ष्य कर इन सूक्तों में कहे गये हैं और यह कहा जाय कि 'आचार्यदेव' आदि शब्दों का 'आचार्यपराण' आदि अर्थ होता है इस कारण 'शिश्नदेवा:' शब्द का भी 'शिश्नपरायण' अर्थ ही होना चाहिए, तो इसका भी समुचित उत्तर दिया जा सकता है। ऋग्वेद में एक शब्द 'मुरदेवा:' (१०-८७-२) दस्यु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'पितृदेव' इत्यादि उपनिषद् के शब्दों की अपेक्षा ऋग्वेद के 'मुरदेवा:' शब्द के आधार पर 'शिश्नदेव' का अर्थ करना अधिक युक्तिसंगत होगा। 'मुरदेवा:' का भाषान्तर 'मूढ़परायण' करने से अर्थप्राप्ति होती है क्या? उसका कोई अर्थ नहीं निकलता। 'जिनके देव मूढ़ हैं वे' ऐसा ही उसका अर्थ किया जाना चाहिए। उसी आधार पर 'शिश्नदेवा:' का अर्थ भी 'लिंग जिनका देव है वे' ऐसा किया जाना चाहिए।"

श्री काशीकर पहले से ही निश्चित कर बैठे हैं कि सिंधु संस्कृति द्रविड़ों की है तथा बाद में सभी शब्दों का द्रविड पर अर्थ लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

काशीकर के कथन का परीक्षण

परन्तु काशीकर ने भी मातृदेव, पितृदेव आदि शब्दों को छोड़कर जिस 'मुरदेव' शब्द को लिया है उसका भी उनके द्वारा बताया गया अर्थ 'मूढ़ जिनका देव है' गलत है। यूरोपीय पंडित 'शिश्नदेवा:' शब्द का जो 'लिंगपूजक' अर्थ करते हैं वही उनको (काशीकर को) चूंकि मान्य करना है इसलिए उन्होंने मुरदेव शब्द का वैसा अर्थ किया है। सर्वप्रथम तो किसी भी परिस्थिति में मूढ़ व देव शब्द एकत्र आ ही नहीं सकते। गाली ही यदि देना हो तो 'जिनका देव मूढ़ है' ऐसी गाली कोई न देगा। अपने बैरी को मूर्ख कहना ठीक है, किन्तु इस कारण उसके देव को भी मूर्ख कहना कहाँ की बुद्धिमानी है। सामान्य संस्कृति का मनुष्य भी ऐसा नहीं कर सकता। फिर 'नासदीय' तथा 'अस्य वामस्य' सरीखे सूक्तों के रचयिता ऋग्वेदीय आर्य तो अत्यन्त उच्च संस्कृति संपन्न थे। 'जिस प्रकार कोई व्यक्ति सत्तू के आटे को चालकर उसकी चोकर को अलग कर देता है तथा उसे स्वच्छ करता है, उसी प्रकार अलौकिक बुद्धि के लोग भी कल्पना की सहायता से कविता का निर्माण करते हैं व इस प्रकार सावधानी पूर्वक निर्मित की गई काव्यकृति को सहृदय लोग ही समझ सकते हैं,' इस प्रकार अपनी ही सूक्त रचना के संबंध में अभिमानपूर्ण उद्गार प्रकट करनेवाले तथा प्रत्येक शब्द को तौल कर प्रयुक्त करने वाले लोग, 'जिनका देव मूढ़ है' ऐसा वाक्प्रयोग करेंगे यह समझना पराकष्ठा की धृष्टता है। काशीकर कहते हैं कि अन्य किसी भाषान्तर का कोई अर्थ नहीं है। किंतु सच पूछा जाय तो उन्हीं के वाक्प्रयोग का कोई अर्थ नहीं निकलता। मुरदेव शब्द का अर्थ 'मूर्खता से चाहे जिस देव की उपासना करने वाले लोग' ऐसा करना चहिए। केवल यही एक शब्द ऋग्वेद में नहीं है। ऋग्वेद में पूर्वदेव, विश्वदेव, उग्रदेव इत्यादि और भी शब्द आते हैं। उनका काशीकर की पद्धति से क्या अर्थ होगा ? शिश्नदेव का अर्थ करने के लिए श्री काशीकर ने उपनिषदों के मातृदेव शब्द की अपेक्षा ऋग्वेद के ही मुरदेव शब्द का आधार लेना अधिक युक्ति संगत माना है, किंतु उसी ऋग्वेद में जो पूर्वदेव शब्द आया है उसका वे क्या अर्थ करेंगे 'मूढ़ जिसका देव है' इसी आधार पर 'पूर्व अर्थात् पूर्व दिशा जिनका देव है' ऐसा अर्थ करेंगे क्या? किंतु इस प्रकार के अर्थ में सबसे बड़ी अड़चन यह है कि ऋग्वेद में 'पूर्व' शब्द 'दिशा' के लिए नहीं आता। 'विश्वदेव' शब्द भी ऋग्वेद में आया है। 'उग्रदेव' व 'शूरदेव' शब्द भी आये हैं। परन्तु इनका अर्थ 'विश्व जिनका देव है,' 'उग्र जिनका देव है' ऐसा नहीं है। इन सब स्थानों पर यदि परायण अर्थ ही लागू होता हो तो फिर 'शिश्न-

देव' शब्द के लिए ही वह लागू नहीं होता, ऐसा कहने में सिवाय इसके और क्या कारण हो सकते हैं कि यूरोपीय पंडितों को वह मान्य नहीं है। श्री काशीकर ने 'शिश्नदेव' शब्द का अर्थ 'लिंगपूजक' बताने के लिए जिस ऋचा का प्रमाण दिया है, उसका भी उनकी पद्धति से किया गया अर्थ प्रसंगानुकूल नहीं जँचता। शिश्नदेव का अर्थ 'स्त्रैण' अथवा 'काम परायण' मानने से ही उसका योग्य स्पष्टीकरण होता है। 'मा शिश्नदेवा अभिगुर्ऋतं नः' में कहा गया है कि 'शिश्नदेव हमारे यज्ञ में न आवें'। 'वे हमारे यज्ञ में विघ्न न डालें, ऐसा नहीं कहा गया है। और इस कारण इस वाक्य के आधार पर खींचतान कर जातिवाचक 'लिंगपूजक शत्रु, का अर्थ निकालना ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त, युद्ध प्रसंग में अपने घर आये हुए शत्रु को मार भगाने के लिए तेजस्वी आर्यों को इन्द्र की प्रार्थना के लिए दौड़ने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उल्टे, यज्ञकर्म सरीखा अत्यंत पवित्र कार्य अपवित्र लोगों के सम्पर्क के कारण कहीं भ्रष्ट न हो जाय, यह चिंता सदा 'मां पाहि अंहसः, (मुझे पाप से बचाओ) कहकर प्रार्थना करने वालों के अंतःकरण में उत्पन्न होना तथा उसी दृष्टि से उनका परमेश्वर की प्रार्थना करना अत्यंत स्वाभाविक था। बाह्य शत्रुओं का तो प्रतिकार किया जा सकता है किंतु अमुक मनुष्य स्त्रैण व अपवित्र है यह जानने का कोई साधन न होने के कारण उस संबंध में परमेश्वर की सहायता माँगना अत्यन्त योग्य है। इस कारण इस अर्थ में काशीकर ने जो आपत्ति प्रकट की है वह उचित न होकर यही उस ऋचा का वास्तविक अर्थ है। उनके द्वारा उल्लिखित दूसरी ऋचा में भी दुराग्रह पूर्वक द्रविड लिंग पूजकों का संबंध पहले ही से मान्य कर लिया जाय तो बात दूसरी, अन्यथा 'शिश्नदेव' याने कामपरायण अथवा भोगविलास में लिप्त हुए लोगों को मारकर इंद्र उनकी सम्पत्ति हरता है, इस सरल व सरस अर्थ में आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं है।

डॉ० राय ने 'शिश्नदेव' शब्द का अर्थ 'कामलम्पट' ही किया है तथा डॉ० मूर ने तो स्पष्ट ही किया है कि—"However interesting, therefore, it would be to find a proof of the existence of a phallic worship among the aboriginal tribes contemporary with the Vedic Rishis, it must be confessed that the word does not supply this evidence'. अर्थात्, वैदिक ऋषियों के काल में आदिवासियों में लिंगपूजा प्रचलित थी, इस बात का प्रमाण ढूंढना कितने ही महत्व का क्यों न हो किंतु इस शब्द के द्वारा वह प्रमाण प्राप्त नहीं होता यह मान्य करना ही पड़ेगा।

यदि यह मान भी लिया जाय कि 'शिश्नदेव' का अर्थ लिंगपूजक है तो भी लिंगपूजा अनार्यों में थी या द्रविड संस्कृति स्वतंत्र थी, यह निश्चित करने के लिए, सिवाय उन पाश्चात्य लोगों की दुलारी कल्पना के जो यज्ञप्रधान भार-

तीय संस्कृति से पूर्णरूप से अनभिज्ञ हैं, और कोई भी आधार नहीं है। महा-महोपाध्याय पंडित सम्राट श्री कृष्णशास्त्री धुले ने लिंगपूजा अथवा शिवपूजा यज्ञीय अग्निपूजा से ही किस प्रकार निकली, इसका एतत्संबंधी समस्त मतों का खंडन कर इतनी उत्कृष्टता से मंडन किया है तथा इस संबंध में उनका अनुसन्धानात्मक लेख 'महादेव का मूल स्वरूप' जगत् में इतना सर्वमान्य हुआ है कि लिंगपूजकों के स्वतंत्र वर्ग की कल्पना कर उनकी भिन्न संस्कृति मानने का अब कोई कारण ही शेष नहीं रहता। इस कारण शिश्नदेव के आधार पर सिंधु घाटी की संस्कृति द्रविडों की सिद्ध नहीं होती, प्रत्युत वह वैदिक संस्कृति का ही एक भाग सिद्ध होती है। इसके अलावा इस सिंधु संस्कृति के ऊपर प्रचंड ग्रंथ लिखने वाले मूल लेखक सर जॉन मार्शल को भी सिंधु संस्कृति व सुमेरियन संस्कृति में उतना साम्य नहीं दिखाई देता, जितना औरों को दिखाई देता है। उल्टे, उनका तो यह कहना है कि उनमें वैषम्य की मात्रा ही अधिक है। २८ जनवरी सन् १९२९ के टाइम्स ऑफ इण्डिया के अंक में उन्होंने कहा है—

"Points of difference between these two civilisations are more numerous than the points of similarity." (इन दो संस्कृतियों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है)।

इसके अतिरिक्त, सिंधु घाटी की यह सभ्यता एक स्वतंत्र संस्कृति सिद्ध होने के स्थान पर किसी अन्य विशालतर संस्कृति का ही भाग सिद्ध होती है। क्योंकि इस उत्खनन में अन्य अनेकों वस्तुओं के साथ-साथ जो हथियार प्राप्त हुए हैं, उनमें युद्धोपयोगी हथियारों का पूर्णत: अभाव है। इसका अन्वेषकों को भी बड़ा आश्चर्य लगता है। इतने अधिक उन्नत लोगों को युद्ध कला की जानकारी ही न रही होगी तथा युद्धोपयोगी हथियारों के बिना ही वे जीवनयापन करते होंगे, यह कल्पना ही मूर्खतापूर्ण है। इससे एक ही अनुमान निकलता है कि यह भाग एक विशाल संस्कृति का कोई विद्यापीठ सरीखा भाग रहा होगा। संस्कृति का यह एकाँगी स्वरूप भूकंपादि सरीखी विलक्षण आपत्तियों के कारण भूगर्भ में चला गया होगा तथा अब पुन: प्रकाश में आया है। इस सिंधु संस्कृति में प्राप्त कुछ चिन्हों का स्पष्टीकरण वैदिक संस्कृति के द्वारा जितनी अच्छी तरह से हो सकता है, उतनी अच्छी तरह से अन्य किसी भी पद्धति के द्वारा न हो सकने के कारण यह सिंधु संस्कृति वैदिक संस्कृति का ही एक भाग है, यह मानने के लिए पर्याप्त आधार है। मोहेंजोदड़ो में दो चित्र हैं। एक चित्र में एक वृक्ष की शाखा में से दो मुख तथा दूसरे में छ: मुख निकले हुए दर्शाये गये हैं। उन्हें देखकर कुछ अन्वेषकों ने अपनी अक्ल लड़ाकर यह कल्पना की है कि वे वृक्षों पर रहने वाले भूतों के चित्र होंगे। किंतु यह कितना विचित्र है कि एक ओर तो उस संस्कृति को अत्यंत उच्च

स्तर का घोषित किया जाता है और दूसरी ओर उसमें भूतप्रेत पूजा सरीखी अत्यंत प्राथमिक अवस्था दर्शाने वाली बातों का दिग्दर्शन कराया जाता है। यहाँ हम ऋग्वेद में वर्णित 'अस्य वामस्य' सूक्त के इस वर्णन पर ध्यान दें।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्ये अभिचाकशीति ॥"

(एक दूसरे के सखा बनकर दो पक्षी एक ही वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के फल खाता है तथा दूसरा कुछ भी न खाता हुआ केवल अपने तेज से प्रकाशित होता है।)

इस वर्णन में दो सुपर्णों का तथा छः भुवनों को सम्हालने वाले एक अज का जो उल्लेख है वही इन चित्रों में वर्णित किया गया है। यह वर्णन सिंधु संस्कृति की उदात्तता के अनुरूप ही है तथा इस वर्णन पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक भागात्मक संस्कृति किस विशाल संस्कृति का अंग है। सिंधु संस्कृति का यह स्वरूप देखने के पश्चात् यह तो अब अच्छी तरह ध्यान में आ गया होगा कि उसके आधार पर दस्यु या द्रविडों का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। हो सकता है कि किन्हीं अन्य प्रमाणों के आधार पर आर्य संस्कृति से भिन्न द्रविड़ संस्कृति का अस्तित्व सिद्ध किया जा सके। किंतु इस संबंध में प्रामाणिक अन्वेषकों ने हाथ टेक दिये हैं। यही नहीं, जहाँ-जहाँ भी द्रविड़ संस्कृति बताई गई है वहाँ वह आर्य संस्कृति से मिश्रित ही दृष्टिगोचर हुई है। इसलिए यही मानना क्रमप्राप्त है कि स्वतंत्र द्रविड संस्कृति थी ही नहीं। इसलिए डॉ० कीथ ने हताश होकर अपने ग्रंथ 'दि रिलिजन एण्ड फ़िलासफ़ी आफ़ दि वेदाज्' में ये उद्गार व्यक्त किये हैं—

"We have insufficient knowledge of what was true Aryan, and we know facts regarding Dravidian though only long after it had been affected by the Aryan invasion. Here as often confession of ignorance is preferable to the affectation of knowledge."

अर्थात् "सच्चे आर्य कौन थे? इसका हम लोगों को अत्यल्प ज्ञान है तथा द्रविडियनों के बारे में जो बातें हम जानते हैं वे आर्यों के आक्रमण के द्वारा प्रभावित होने के बहुत बाद की हैं। अतः ज्ञान को विकृत होने देने की अपेक्षा अपने अज्ञान को स्वीकार कर लेना ही अधिक श्रेयस्कर है।" डॉ० कीथ का यह कथन कितना ठीक है।

डॉ० प्राणनाथ का मत

डॉ० प्राणनाथ ने कहा है कि सिंधु संस्कृति मूलतः आर्य संस्कृति ही है तथा यहीं से अन्य लोग सुमेरी लोगों में गये, इस कारण वहाँ भी इस संस्कृति का विकास हुआ। इसके लिए उन्होंने संस्कृत भाषा के

उन नामों को प्रमाण माना है जिनका निर्देश सिंधु संस्कृति में हुआ है। किंतु उन्होंने इलस्ट्रेटेड वीकली आफ़ इंडिया में एक लेखमाला लिखकर जो यह कहा है कि ऋग्वेद में सुमेरियन लोगों का इतिहास बताया गया है, वह पूर्णतया गलत है। उनका कहना यह है कि 'ईसा के ४००० वर्ष पूर्व ईजिप्त से लेकर उत्तर हिंदुस्थान तक सुमेरियन लोगों की बस्ती थी। उत्तर हिंदुस्थान की उपभाषाएं इसी प्राचीन सुमेरियन भाषा से निकली हैं। संस्कृत भाषा सुमेरियन, फोनिशियन, इजिप्शियन इत्यादि भाषाओं के मिश्रण से बनी है। ऋग्वेद सुमेरियन इतिहास का ग्रंथ है क्योंकि उसमें सुमेरिया व इजिप्त के प्रान्तों, शहरों व ईसापूर्व ४००० से १००० तक के राजाओं का उल्लेख है।"

किंतु बनारस हिंदु विश्वविद्यालय के इन प्राध्यापक महोदय को चाहिए कि ऋग्वेद में सुमेरिया का इतिहास ढूंढने के पूर्व सर्वप्रथम दृढ़ प्रमाणों द्वारा इस बात का खंडन करें कि ऋग्वेद का काल किसी भी स्थिति में ईसापूर्व ४५०० वर्ष के इस पार नहीं खींचा जा सकता। अन्यथा ईसापूर्व १००० वर्ष के पश्चात् ऋग्वेद की निर्मिति कैसे सिद्ध हो सकेगी ? मेक्समुल्लर से लेकर लोकमान्य तिलक तक कोई यह नहीं कहता कि ऋग्वेद की रचना ईसापूर्व १००० वर्ष के बाद हुई। इसके अलावा वैदिक आर्यों व सुमेरियन लोगों के लिपि-सादृश्य का भी क्या प्रमाण है? डॉ० प्राणनाथ ने उस चित्रलिपि को पढ़ने का प्रयास किया है। किंतु जैसा उच्चारण वे करते हैं वह ठीक ही है यह जानने के लिए निदान आज तो कोई साधन नहीं है। यूरोपीय अन्वेषकों ने ही इस संबंध में ऐसा स्वीकार किया है कि "It must be remembered that the reading of most of the early Sumerian proper names is merely provisional as we do not know how the idiographs, of which they are composed, were pronounced in either Sumerian or Assyrian."—Encyclopaedia Britanica.

(यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि सुमेरियन साहित्य के अधिकांश संज्ञावाचक शब्दों का उच्चारण केवल अनुमानजन्य है, क्योंकि हमें यह ज्ञान नहीं है कि सुमेरियन अथवा असीरियन भाषा में चित्रलिपि का उच्चारण कैसे किया जाता था—ब्रिटिश ज्ञानकोश) इतने पर भी इस कल्पित उच्चारण के भरोसे नामसादृश्य की कल्पना कर ऋग्वेद को सुमेरियन लोगों का ग्रंथ बताने के लिए डॉ० प्राणनाथ सिद्ध ही हैं। ऋग्वेद की निर्मिति खाल्डिया में हुई तथा उसमें सुमेरी लोगों का इतिहास लिखा गया है, यह सिद्ध करने के लिए डॉ० प्राणनाथ ने जो प्रमाण उपस्थित किये हैं, उनका श्री अप्रबुद्ध द्वारा किया गया विवेचन देखने योग्य है। वे कहते हैं; "डॉ० प्राणनाथ का सारा आधार पहले मंडल के १३२वें सूक्त पर है। उसमें 'वैलस्थान' व 'महावैल-

स्थान' ये शब्द हैं। उनमें व खाल्डियन शब्द 'बेल' में उन्हें साम्य दिखायी दिया तथा उसी पर उन्होंने अपनी सारी इमारत खड़ी की। उनका कहना है कि इस सूक्त में आर्यों द्वारा खाल्डिया की विजय का तथा घनघोर संग्राम कर बेबीलोन (वैलस्थान) जीतने का वर्णन है। उनके तर्क में त्रुटि यही है कि इस सूक्त में घनघोर संग्राम का कोई प्रसंग ही नहीं है। इसमें शत्रु की ५०-५० की तीन टोलियों की मृत्यु का वर्णन है। कोई भी इसे घनघोर संग्राम न कहेगा। ऋग्वेदीय आर्यों को ऐसे घोर संग्राम का पता था जिसमें छः छः हजार लोग मारे जाते थे। (ऋ० ७-८-१४)। उनका 'वैल' शब्द का खाल्डियन शब्द 'बेल' से संबंध जोड़ना भी गलत है। स्वतंत्र प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध होता है कि 'वैल' का उचित अर्थ 'श्मशान' अथवा 'चिता' है। ऋग्वेद के कितने ही शब्दों को मराठी भाषा ने ज्यों का त्यों, अथवा थोड़े फेरफार से अपना कर सुरक्षित रखा है। जैसे अंतुरी को वैदिक 'अथरी', निम्मे को 'नेम', रिते को 'ऋत'। उसी प्रकार 'वैल' भी है। वैल का अर्थ है चूल्हे से जुड़ा हुआ अंगार रखने का स्थान। इस वैल शब्द को मराठी ने मूल ऋग्वेदीय अर्थ में ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा है। इस कारण डॉ० प्राणनाथ की कल्पना आधारहीन हो जाती है।"

श्री शेष आयंगर ने अपने ग्रंथ में यह मान्य किया है कि द्रविड संस्कृति केवल वेदों में ही दिखती है, किंतु वहाँ भी निश्चयात्मक रूप में नहीं। वे कहते हैं—"Regarding the pre-historic period it has already been shown how from the Vedic literature, we could learn something......Beyond these few references, our knowledge as regards the political organisation of the Dravidian society in the pre-historic period is sadly defective.

(प्रागैतिहासिक काल के संबंध में वेदों से जो थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त होती है वह हमने देखी ही है। परन्तु इन थोड़े से उल्लेखों को छोड़कर द्रविड समाज के राजनैतिक संगठन के बारे में हमारा ज्ञान अत्यंत ही अल्प है।) जिन शब्दों के आधार पर यह ज्ञान प्राप्त हुआ माना जाता है उन 'शिश्नदेव' व 'अनास' शब्दों का हम परीक्षण कर ही चुके है।

भाषासाम्य एक भ्रामक प्रमाण

केल्टिक, जर्मन, सेक्सन, ग्रीक, लेटिन, ट्यूटोनिक, जेंद इत्यादि भाषाओं का संस्कृत भाषा से हठात् संबंध जोड़कर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है कि इन सब भाषाओं की मिश्रित भाषा बोलने वाले लोग एक ही आर्यन् वंश के थे। किंतु इस सिद्धान्त का हम इस आधार पर पहले ही खंडन कर चुके हैं कि भाषा के द्वारा वंशैक्य सिद्ध नहीं होता। परन्तु यह कहना भी संशयास्पद ही

है कि इन भाषाओं का साम्य उनकी एकता सिद्ध करता है। इन भाषाओं का संस्कृत भाषा से संबंध हठात् ही जोड़ा जाता है और इस संबंध को अपने यहाँ के लोग बिना ननु-नच के मान भी लेते हैं। ओल्टेर तुम्स्कुंड, गेस्सेल शाफ्ट कुल्टुर इत्यादि शब्दों का प्रयोग करने वाले जर्मनों की भाषा से तथा वाँ-जूद-मसिए त्रवाव्हॉय यॉसेट, त्रू व्हेर्त यूंद्रेजार आदि शब्द बोलने वाले फ्रेंचों की भाषा से संस्कृत का संबंध बिना किसी हिचकिचाहट के जोड़ दिया जाता है, यह कितना बड़ा आश्चर्य है। संस्कृत तथा वैदिक संस्कृत से सच्चा भगिनी-भाव जेंद भाषा का है। जर्मन, रशियन का यदि संस्कृत भाषा से संबंध हो सकता है तो अरबी का भी क्यों नहीं हो सकता? परन्तु अपने यहां के संस्कृतज्ञों को पहले ग्रीक, लेटिन या अरबी, हिब्रू की पहिचान हो तब न! यूरोपियन लोगों की गप्पों पर ही उनका सारा आधार रहता है और इसी कारण यूरोपियन लोगों के गलत अनुमानों को भी वे सिद्धान्त कहकर हमारे गले उतारने का प्रयत्न करते हैं। श्रुतिबोधकार श्री रामचन्द्र विनायक पटवर्धन का यह कथन वास्तव में पर्याप्त तथ्यपूर्ण है कि यूरोपियन विद्वानों द्वारा प्रदर्शित भाषा-साम्य एक विशेष ढर्रे का व अस्थाई है तथा उसकी आज तक किसी ने शास्त्रीय दृष्टि से छानबीन नहीं की है। परन्तु यदि हम भाषा साम्य पर विश्वास भी रखें तो भी आखिर उससे क्या सिद्ध होगा? क्योंकि डॉ० कीथ कहते हैं कि "All the Indo-European languages have certain special points in which they agree with one another of the group, and to deduce racial mixture and migration from these facts is quite impossible. (सभी इंडो-यूरोपीय भाषाओं में कुछ विशेष बातें ऐसी हैं जिनमें उनका समूह की एक या दूसरी भाषा से साम्य है; तथा उनके सहारे वंशैक्य, वंशमिश्रण, निष्क्रमण आदि सिद्ध करना सर्वथा असंभव है।) इसके अतिरिक्त, यह तथाकथित भाषासाम्य भी एक प्रकार से भ्रामक ही है। वैदिक आर्यों को जिस भाषा का अभिमान था, वह चौंसठ वर्णों से युक्त थी। ये चौंसठ वर्ण अन्य किसी भी भाषा में नहीं हैं। पाश्चात्य भाषाओं के अर्धस्वर (but, put, can, ought) वैदिक भाषा में बिल्कुल भी नहीं हैं। उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वरों सहित वैदिक शब्दों का उच्चारण किया जाता है व इन स्वरों के कारण शब्दों के अर्थ, समास, विभक्ति, काल आदि बदला करते हैं। भाषा साम्य के भेरी-निनाद में वैदिक भाषा के इस स्वरूप पर अणुमात्र भी ध्यान नहीं दिया गया है। इस पर यदि हम ध्यान दें तो यह सहज स्पष्ट हो जाता है कि साम्य की कल्पना करते समय हमें कितना फूंक-फूंक कर कदम रखना पड़ेगा।

इस प्रकार भाषासाम्य, ऋग्वेद में आर्य शब्द का इतिहास, उत्खनन के

द्वारा प्रगट सिंधु संस्कृति के अवशेष, सुमेरियन लिपि व उसका उच्चारण-शास्त्र तथा शब्दों को तोड़-मरोड़ कर हठपूर्वक किया गया उनका अर्थ इत्यादि अनेक बातों का विचार कर तथा इन्हीं से संबद्ध लिंगपूजक आदि संप्रदायों के मूल का निरीक्षण कर हमने देखा कि वेदों में 'आर्य' शब्द वंशवाचक नहीं है; आर्यों के नाक, कान, नेत्र, त्वचा का रंग आदि के संबंध में किये जाने वाले वर्णन केवल ढोंगमात्र हैं; ऋग्वेद के आधार पर आर्य शब्द यज्ञ-क्रिया करने वाले, त्रेसठ या चौसठ वर्णों की भाषा बोलने वाले तथा समाज के सुसंस्कृत लोगों के लिए ही प्रयुक्त होता है; तथा दास भी आर्य हो सकते थे व आर्य काले भी होते थे। उसी प्रकार हमने यह भी देखा कि चपटी नाक व लिंग-पूजक द्रविडों की भ्रामक कल्पना केवल शब्दों को तोड़मरोड़कर उत्पन्न की गई है; वेदों के आधार पर किसी भी भिन्न संस्कृति का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। वैसे ही, द्रविड संस्कृति के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला अन्य कोई प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। ऋग्वेद में जिस प्रकार 'दस्यु' 'दास' आदि शब्द आये हैं, उसी प्रकार 'असुर' शब्द भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। उसका भी वेदों के आधार पर क्या स्वरूप सिद्ध होता है यह संक्षेप में देखना आवश्यक है। ऋग्वेद में दस्यु व दास दोनों ही शब्द प्राप्त होते हैं। बाद के साहित्य में दस्यु शब्द दिखाई नहीं देता, केवल दास शब्द ही दिखाई देता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऋग्वेद में दस्यु व 'दास' एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। 'दस्यु' शब्द ऋग्वेद में उन्यासी बार व दास शब्द छप्पन बार आया है। इन दोनों ही शब्दों की यह विशेषता है कि उनका उल्लेख अधिकांशतः इंद्र के साथ हुए उनके संघर्ष के समय हुआ है। कुछ स्थानों पर उनका उल्लेख मरुत्, रुद्र आदि के द्वारा किये गये उनके नाश के प्रसंगों पर हुआ है। बहुत ही कम स्थानों पर दस्युओं को मानव कहकर उल्लिखित किया गया है। दास शब्द के संबंध में भी यही बात है। दास विषयक एक स्तोत्र में तो उस संपत्ति की माँग की गई है जिसके द्वारा दास 'आर्य' होता है। इन सब उल्लेखों से पता चलता है कि दास व दस्यु दोनों ही विशेष देवयोनियाँ हैं। निदान इतना तो स्पष्ट है कि वे अपार्थिव योनियाँ हैं। हमें यह अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए कि ऋग्वेद में इंद्र अथवा अन्य देवों के साथ उनके जो युद्ध वर्णित हैं, वे दासराज्ञ युद्ध सरीखी वर्तमान युग की ऐतिहासिक घटना के नाते वर्णित नहीं हैं। उनका वर्णन, इंद्र का वर्णन करते समय, अतिप्राचीन दैवीकृत्य के नाते उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार श्री तुकाराम ने अपनी पंक्ति 'प्रह्लादा कारणे नरसिंह झालासी' में नृसिंहावतार का वर्णन किया है। ऋग्वेद की देवकल्पना व इंद्र का योग्य अर्थ समझ लेने पर दास व दस्यु का स्पष्टीकरण भी उत्कृष्ट रीति से हो जाता है।

ऋग्वेद में देव व इन्द्र

ऋग्वेद में देव व इंद्र अपार्थिव विभूतियाँ हैं जिनके विग्रह (शरीर) हैं। वैदिक लोग अपने देवता का आध्यात्मिक, आधिदैविक व आधिभौतिक तीनों ही प्रकार से निर्देश किया करते थे। जो दृष्टि संतों को पंढरी के पाषाण पाण्डुरंग व चिन्मय पाण्डुरंग में एकत्व की व भिन्नत्व की भी प्रतीति कराती थी, वही दृष्टि वैदिक द्रष्टाओं की भी अपने देवताओं के संबंध में थी। इन सब देवताओं में इंद्र ही ऋषियों का सबसे अधिक प्रिय देव है जिसे सब देवताओं में श्रेष्ठ माना गया है। उत्तर भारत में राम व कृष्ण का तथा महाराष्ट्र में पाण्डुरंग का भक्तों के भावजगत् में जो स्थान है, वही स्थान ऋग्वेद में इंद्र का है। यह इंद्र बारम्बार वृत्र का वध करता है तथा इतर् तामसी शक्तियों का संहार करता है। ऋग्वेदीय ऋषियों की देवाधिदेव इंद्र व देव संबंधी धारणा को ध्यान में रखते हुए यदि दस्युओं के उल्लेख वाली ऋग्वेदीय ऋचाओं का हम योग्य परीक्षण करें तो हमें दिखाई देगा कि अधिकाँश ऋचाओं में इंद्र का प्रेमपूर्ण व उत्कट भावना से वर्णन किया गया है तथा इंद्र का पराक्रम दर्शाने के लिए दस्युओं को मारने का उल्लेख हुआ है। ये सारे ही उल्लेख अत्यन्त प्राचीन काल में किये गये देवताओं के पराक्रम के उल्लेख हैं जो उनका गुणगान करने के लिए लिखे गये हैं। श्री तुकाराम ने जिस ढंग से नरसिंह के पराक्रम का वर्णन किया है उसी ढंग से अत्यंत प्राचीन काल का समझकर ऋग्वेदीय ऋषियों ने भी अपार्थिव व दिव्य विभूतियों द्वारा किये गये पार्थिव व तामसी शक्तियों के विध्वंस का वर्णन किया है जिस पर ध्यान देने से यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जायेगा कि आर्य व द्रविडों के संघर्ष का ऋग्वेद से कुछ भी संबंध नहीं है। दस्यु, असुर आदि सब आधिदैविक क्षेत्र की तामसी शक्तियाँ हैं। जिस प्रकार बीच के काल में समान गुण धर्म के कारण इस्लामी अत्याचारियों को दैत्य कहा जाता था उसी प्रकार वैदिक लोग भी समान गुण धर्म के आधार पर संस्कृतिहीन, नियंत्रणहीन, अयज्वे, अव्रती, अशुद्ध भाषा बोलने वाले, व्यक्ति सुख में निमग्न, असंयमी व भोगवादी लोगों को दस्यु व असुर शब्दों से संबोधित किया करते थे।

सुर व असुर

असुर शब्द में 'अ' उपसर्ग के साथ 'सुर' शब्द आया है। 'सुर' शब्द छटवें गण की 'सुर्' धातु से बना है। सुर् याने नियंत्रण करना, नियमन करना, व्यवस्था करना। जिनके जीवन का निग्रहानुग्रहात्मक हेतु है तथा विशेष प्रकार के नियन्त्रण से युक्त जिनका नियमबद्ध अस्तित्व है उन आधिदैविक क्षेत्र में देव कहलाने वाली शक्तियों को 'सुर' कहते हैं। 'अ' उपसर्ग नकारात्मक अथवा नञर्थी है; संस्कृत भाषा में नकार के सात अर्थ होते हैं (नञर्थाः सप्त-

कीर्तता:) यह प्रसिद्ध ही है। परन्तु ऋग्वेद में नञ् 'अ' का और एक विशेष अर्थ में उपयोग हुआ है। जिस प्रकार 'अति' उपसर्ग का किसी एक वस्तु से श्रेष्ठ, उसकी मर्यादा में न आ सकने वाला, उसके बाहर का आदि अर्थों में उपयोग होता है उसी प्रकार ऋग्वेद के कुछ शब्दों में 'अ' उपसर्ग का भी उपर्युक्त अर्थ में ही प्रयोग हुआ है। नकार द्वारा जब यह दिखलाया जाता है कि अमुक एक विशेषता अमुक वस्तु में नहीं है तब उसके दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि उस वस्तु की श्रेणी इतनी निम्न है कि उस विशेषता को अंगीकृत करने की उसमें सामर्थ्य नहीं; दूसरा यह कि वह वस्तु ही इतनी उच्च श्रेणी की है कि वहाँ तक वह विशेषता ही पहुँच नहीं सकती अथवा, दूसरे शब्दों में कहा जाय, तो वह पदार्थ उस वैशिष्ट्य की कक्षा के भीतर आ ही नहीं सकता। इस दूसरे अर्थ में असुर शब्द का ऋग्वेद के कुछ स्थानों पर प्रयोग हुआ है। सुर याने वह देवशक्ति जिसका अस्तित्व व जीवन नियंत्रित और नियमबद्ध है। असुर याने इन सब नियन्त्रणों के परे रहने वाला सबका नियन्ता, परन्तु जिसका और कोई नियन्ता नहीं है ऐसा, देवाधिदेव परमेश्वर। स्पन्दनात्मक प्राणतत्व को वायु अभिधान प्राप्त होने के पूर्व, मूलतत्व से व्यक्त दशा में आते ही 'तनूनपात' संज्ञा प्राप्त होती है, यह बताते हुए कहा गया है: **"तनूनपात उच्यते गर्भ आसुरः।"** यहाँ असुर का अर्थ है मूल परमेश्वर; उससे निर्मित हुई शक्ति आसुर कही गई है। ऋग्वेद में जहाँ असुर शब्द का 'नियमनातीत' इस विशेष अर्थ में देवाधिदेव के लिए उपयोग हुआ है, वहाँ इसके बिल्कुल विपरीत हीन अर्थ में अर्थात्, किसी भी नियमन अथवा नियन्त्रण के अन्दर रहने के अनिच्छुक भोगवादी, उच्छृंखल एवं स्वैर प्रवृत्ति के लोगों के लिए भी उस शब्द का प्रयोग हुआ है और इस अर्थ में ही उसका प्रयोग अधिक बार हुआ है। आगे के साहित्य में तो उसका पहला अर्थ पूर्णरूप से ही लुप्त हो गया है और दूसरा अर्थ ही शेष रह गया है। पारसियों के धर्मग्रंथ अवेस्ता में अवश्य ही ऋग्वेद के असुर शब्द का पहला अर्थ शेष है। आगे चलकर रूढ़ होने वाला असुर शब्द का यह दूसरा अर्थ भी ऋग्वेद में है। जैसे—**'अनायुधासो असुरा अदेवाश्चक्रेण तां अप वप ऋजीषित'** 'हे इन्द्र! ये हमारे प्रतिस्पर्धी किसी भी प्रकार के शस्त्रास्त्रों से न डरने वाले अर्थात् अतिशय प्रबल, असुर अर्थात् जिनके आचरण का कोई तंत्र नहीं है याने सब प्रकार के नियम धर्मों को ताक पर रखने वाले, तथा अदेव याने स्वतः को देवों से भी बढ़कर समझने वाले अर्थात् पराकाष्ठा के उन्मत्त हैं। इसलिए तू हमारी सहायता कर एवं उनका निर्मूलन कर दे।' मूलतः देवयोनि वाले असुरों के लिए अथवा आधिदैविक क्षेत्र की तामसी शक्तियों के लिए प्रयुक्त होने वाला असुर शब्द किस प्रकार तत्सदृश गुणों के मनुष्यों के लिए प्रयुक्त होने लगा, इसका भी यह ऋचा एक उदाहरण प्रस्तुत करती है। इन्द्र व इतर देवताओं ने दस्युओं का जो

उल्लेख किया है, उन्हें ही यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह शब्द पहले आधिदैविक क्षेत्र का था तथा बाद में तत्समान गुणवाले मनुष्यों के लिए प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार ऋग्वेद के आधार पर यही सिद्ध होता है कि ये शब्द मूलतः ही गुणवाचक थे तथा अशोभनीय आचरण करने वाले, स्वैर व उच्छृंखल प्रवृत्ति के अयज्वे लोगों को दस्यु व यजनशील, संस्कृति सम्पन्न, संयमी व शुद्ध वाणी के लोगों को आर्य कहा जाता था। मानववंशशास्त्र, कपालमिति शास्त्र आदि सारे ही केवल अनुमानजन्य हैं, निश्चयार्थक नहीं। उनके द्वारा हिंदुस्थान में भिन्न भिन्न वंशों के तथा पुरातत्वशास्त्र द्वारा भिन्न स्तरों के मनुष्यों का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है। मेरा कहना यह नहीं है कि समाज एकस्तरीय ही होता है व एक मानववंश की एक ही संस्कृति होती है। बल्कि मैं तो इस सिद्धान्त का विरोधी हूँ। इंग्लैंड में अनेक वंशों का अस्तित्व होने पर भी, वहाँ की संस्कृति एक ही है। उसी प्रकार भारत में भी मानववंश अनेक होंगे। किंतु उनकी संस्कृति एक ही है और वह संस्कृति वैदिक संस्कृति ही है, यही मुझे कहना है।

इस प्रकार वैदिक साहित्य के सहारे न तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि आर्य, द्रविड, अनार्य आदि शब्द वंशवाचक हैं और न ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि आर्यों व द्रविडों का संघर्ष हुआ करता था। इन शब्दों के स्पष्ट रूप से गुणवाचक होने के कारण रूपरंगादि के आधार पर आर्यों के भारत के मूलवासियों से भिन्न होने की कल्पना वेदों द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। इस कारण भाषासाम्य के आधार पर वंशैक्य की कल्पना कर वैदिक संस्कृति का कहीं बाहर से भारत में आना सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु भले ही यह सिद्ध न किया जा सके कि वैदिक संस्कृति वाले आर्य लोग एक ही आर्यन् वंश के थे तथा यूरोपीय लोगों के समवंशी थे, किंतु उनकी संस्कृति का मूल उत्तरध्रुव प्रदेश में था यह तो लोकमान्य तिलक ने सिद्ध किया ही है। अतः देखना यह है कि वैदिक साहित्य में जिनका जीवन प्रतिबिंबित हुआ है, उनकी संस्कृति का मूल भारत में है अथवा उत्तरध्रुव प्रदेश में। हम लोग मूलतः भारत के हैं अथवा भारत के बाहर से आये हैं।

५

आर्यों का मूलस्थान

गत अध्याय में किये गये प्रतिपादन से यह स्पष्ट हो ही गया है कि आर्य व अनार्य वंशवाचक नहीं, गुणवाचक शब्द हैं तथा वेदों के आधार पर द्रविड या अनार्य संस्कृति का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि वेदों के बाद के काल में ऐसी किसी संस्कृति का अस्तित्व सिद्ध किया जा सके, परन्तु वह संस्कृति वैदिक संस्कृति का ही उपजीव्य होने के कारण यहाँ उसका विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं। उसी प्रकार गत अध्याय में हमने यह भी देखा कि पाश्चात्यों तथा उनके पौरस्त्य मानसपुत्रों द्वारा कल्पित वैदिक लोगों के मध्य एशिया आदि मूलस्थान गलत सिद्ध हुए हैं तथा अब लोकमान्य के ध्रुव के समान ही अटल ध्रुवसिद्धान्त पर सारा विचार आकर केन्द्रित हुआ है। इस सिद्धान्त के दुंदुभि-निनाद के आगे आक्षेपकों की आवाजें लुप्त हुई सी दिखाई देती हैं। इसके आधार पर अब यह संशयातीत रूप से माना जाने लगा है कि आर्य लोग मूलतः उत्तरध्रुवप्रदेश के निवासी थे। इस कारण वैदिक लोगों के मूलस्थान के संबंध में अपने मत का प्रतिपादन करते समय उसका आरंभ ध्रुव सिद्धान्त से करना, तथा उसके पूर्व की कल्पनाएँ गलत सिद्ध होने के कारण उनकी ओर दुर्लक्ष करना ही अधिक उचित होगा। तो लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का यह ध्रुव सिद्धान्त क्या है?

लोकमान्य तिलक का ध्रुव सिद्धान्त

'ओरायन' ग्रंथ की प्रसिद्धि के पश्चात् लोकमान्य को वैदिक साहित्य का अध्ययन करते समय कुछ वर्णन ऐसे प्राप्त हुए जो हिन्दुस्थान, या आर्यों का मूलस्थान कहे जाने वाले जगत् के अन्य किसी भी भूप्रदेश से मेल नहीं खाते थे तथा उनका अर्थ खींचतान कर किया जाने के कारण विचारान्त में वे गलत सिद्ध होते थे। उन वर्णनों का स्पष्टीकरण यह मान लेने पर ही होता था कि वैदिक लोग ध्रुवप्रदेश या ध्रुववृत्त से आवृत्त प्रदेश में रहा करते थे। किन्तु वे सोचा करते थे कि ध्रुवप्रदेश सरीखे अत्यंत शीत प्रधान प्रदेश में मनुष्य रह ही कैसे सकता था? उन्हें कल्पना भी नहीं थी कि मनुष्य के निवास के योग्य समशीतोष्ण जलवायु भी कभी वहाँ थी। परन्तु भूगर्भ शास्त्र की एक

खोज के द्वारा उन्हें यह प्रमाण प्राप्त हो गया कि ध्रुवप्रदेश तथा ध्रुववृत्त से आवृत्त प्रदेश एक समय मनुष्य की वसति के योग्य था तथा हिमप्रलय की उपपत्ति के द्वारा उस मनुष्य वसति के वहाँ से उठने का कारण भी उनके मन को भा गया और इस प्रकार ऋग्वेद के वर्णनों का योग्य स्पष्टीकरण प्राप्त कर उन्होंने यह सिद्धान्त अपने ग्रंथ 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज्' में प्रतिपादित किया कि आर्यो का मूलस्थान उत्तरध्रुव ही है। अपने ग्रंथ में वे कहते हैं—

"आर्य लोग एशिया या यूरोप के मूलनिवासी नहीं थे वरन् उनका मूल-स्थान नवपाषाण युग में उत्तरध्रुव के समीप किसी स्थान पर था तथा वहाँ से वे दक्षिण की ओर एशिया व यूरोप में गये। उनके इस निष्क्रमण का कारण केवल अनिवार्य मनःप्रवृत्ति ही नहीं थी, अपितु उनके मूलस्थान की जलवायु में होने वाला अहितकारक परिवर्तन भी था। इस कथन की पुष्टि के लिए पार-सियों के धर्मग्रंथ अवेस्ता में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। पंडितों ने उसकी बातों को आज तक निरर्थक कहकर छोड़ रखा है तथा उनका कहना है कि उन बातों की पुष्टि के लिए वेदों में कोई प्रमाण नहीं है। उनकी पूर्वकल्पना यह थी कि मनुष्य हिमकाल के पश्चात् का प्राणी है। परन्तु नवीन शास्त्रीय अनुसन्धानों द्वारा अति प्राचीनकाल निदर्शक साधन उपलब्ध हो जाने के कारण हम यह दिखा सकते हैं कि अवेस्ता में वर्णित बातें ऐतिहासिक हैं तथा उन्हें वेदों द्वारा भी भरपूर पुष्टि प्राप्त होती है। कुछ प्रसिद्ध शास्त्रज्ञों ने समस्त वनस्पति व जीवों का आदिस्थान उत्तरध्रुव बताया है। इस कारण हम यह कह सकते हैं कि आर्य लोगों का आद्यस्थान उत्तरध्रुव के समीप किसी स्थान पर था। इसे सिद्ध करने के लिए वेद व अवेस्ता में भरपूर प्रमाण उपलब्ध हैं।

ध्रुव तथा ध्रुववृत्त संबंधी विशेषताएं

"पृथ्वी पर अन्य किसी भी भूप्रदेश में न दिखलाई पड़ने वाले तथा केवल ध्रुवप्रदेश या ध्रुववृत्त से आवृत्त प्रदेश में दृष्टिगोचर होने वाले दृश्य निम्ना-नुसार हैं:—

ध्रुव संबंधी विशेषताएं

१. सूर्य दक्षिण में उगता है।
२. तारे न उगते हैं और न अस्त होते हैं, वरन् क्षितिज के समानान्तर सतह में चक्राकार घूमते हुए चौबीस घंटों में एक प्रदक्षिणा पूरी करते हैं। इस स्थान पर उत्तर खगोलार्ध मात्र सदैव ही क्षितिज पर रहता है तथा संपूर्ण वर्षभर दिखता रहता है, परन्तु नीचे का अर्थात् दक्षिण खगोलार्ध कभी भी दिखाई नहीं देता।
३. वर्ष में ६ महीने का अखंड दिवस व ६ महीने की ही अखंड रात्रि होती है।

४. वर्ष में एक ही प्रातः काल व एक ही सायं काल होता है। याने वहाँ पर सूर्य वर्ष भर में एक बार ही उदित होता है और एक बार ही अस्त होता है। परंतु वहाँ का संधि प्रकाश, चाहे वह प्रभात का हो अथवा सायं का, लगातार दो महीने तक रहता है। यह रक्तवर्ण संध्या प्रकाश हमारे यहाँ के समान एक ही स्थान पर, याने पूर्व (प्रभात) या पश्चिम (संध्या) में, नहीं दिखाई देता अपितु क्षितिज पर चारों ओर प्रदक्षिणा करता रहता है। उसकी प्रदक्षिणा का यह क्रम सूर्यबिंब के क्षितिज पर आते तक चलता रहता है। इसके पश्चात् सूर्य भी यही क्रम ६ महीने तक चालू रखता है, याने वह भी २४ घंटे में एक प्रदक्षिणा दर्शक के चारों ओर लगाता रहता है। हमारे यहाँ के समान २४ घंटे में उगता या अस्त नहीं होता।

ध्रुववृत्त संबंधी विशेषताएं

१. सूर्य सदा देखनेवाले के खस्वस्तिक के दक्षिण में रहता है। परन्तु समशीतोष्ण कटिबंध में भी यही बात दृष्टिगोचर होने के कारण इसे विशेष मान्यता नहीं दी जा सकती।

२. यहाँ पर काफी तारे सदैव क्षितिज पर ध्रुव तारे के चारों ओर प्रदक्षिणा करते रहते हैं और इस कारण सतत दिखते रहते हैं। बाकी के तारे समशीतोष्ण कटिबंध के तारों के समान उगते व अस्त होते हैं; परन्तु उनका घूमने का मार्ग अधिक तिरछा रहता है।

३. यहाँ वर्ष के तीन भाग होते हैं—(१) एक अखंड दीर्घ रात्रि जो मकर संक्रमण के समय होती है तथा विवक्षित स्थान के अक्षांश के आधार पर चौबीस घंटे से बड़ी तथा छः महीने से छोटी होती है। (२) इस दीर्घ रात्रि की जोड़ का एक दीर्घ दिवस जो कर्क संक्रमण के समय होता है तथा (३) वर्ष के शेष भाग में साधारण रात्रि-दिवस का चक्र; इसमें रात व दिन मिलकर कुल चौबीस घंटे होते हैं। दीर्घरात्रि के पश्चात् आनेवाला दिवस उस समय से प्रारंभ होने वाले अहोरात्रि की रात्रि से छोटा होता है तथा आगे बढ़ते बढ़ते उपर्युक्त दीर्घ दिवस हो जाता है। इस दीर्घ दिवस के बाद आने वाली रात्रि उस समय से प्रारंभ होने वाले अहोरात्रि के दिन से छोटी होती है तथा क्रमशः बढ़ते बढ़ते उपर्युक्त दीर्घ रात्रि में परिणत हो जाती है और तब वर्ष समाप्त हो जाता है।

४. इस दीर्घ रात्रि के पश्चात् आने वाली उषा लगातार कई दिनों तक रहती है। परन्तु उसकी अवधि व तेजस्विता स्थान स्थान के अक्षांश के मान से ध्रुव पर की उषा से कम होती है : ध्रुव से थोड़े ही अंशों तक के प्रदेश में चक्राकार फिरने वाले उषःकाल के तेज का दृश्य उसकी कुल

अवधि के पर्याप्त अंश तक दिखता रहता है। परन्तु साधारण अहोरात्रि के काल में अन्य स्थानों के समान ही उषःकाल केवल एक दो घंटे का होता है। अखंड दीर्घ दिवस के समय सूर्य जब क्षितिज के ऊपर होता है तब वह ध्रुव पर घूमता है तथा उसी प्रकार वह देखने वाले के चारों ओर भी घूमता है; परन्तु उसकी प्रदक्षिणा क्षितिज के समानान्तर न होकर काफी तिरछी रहती है। अखंड दीर्घ रात्रि में लगातार क्षितिज के नीचे होने के कारण वह बिल्कुल ही नहीं दिखाई देता और बाकी के संवत्सर भाग में उगता-डूबता कम से कम कुछ काल के लिए अवश्य ही क्षितिज पर आता है। यह काल अक्षांश के मान से कम या अधिक रहता है।" —आर्कटिक होम इन दि वेदाज़, पृष्ठ ५८-६०

ध्रुव तथा ध्रुववृत्त संबंधी ये विशेषताएं पृथ्वी पर अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकतीं। ध्रुव अचल होने के कारण लाखों वर्ष पूर्व वह जैसा था वैसा ही आज भी है और इसलिए ध्रुवप्रदेश की बातें जैसी पहले दिखलाई पड़ती थीं वैसी ही आज भी दिखलाई पड़ती हैं। इन बातों का उल्लेख यदि वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है तो उसका अर्थ यह है कि वैदिक लोग कभी उन प्रदेशों में, जहाँ ये बातें दिखती हैं, अवश्य रहे होंगे।

ऋग्वेद का सरसरी तौर पर निरीक्षण करने से ही यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि वैदिकों की यज्ञ पद्धति चांद्र व सौर मान से नियमित की गई थी। दैनिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, षण्मासिक व वार्षिक यज्ञों के होने के कारण उस समय भी दिवस रात्रि का मान आज के दिवस रात्रि के मान के सदृश ही था; ध्रुवप्रदेश के मान के सदृश नहीं था यह स्पष्ट है। तैत्तिरीय संहिता व ब्राह्मण में तीस दिवस के चांद्र मास का व बारह महीने के वर्ष का स्पष्ट उल्लेख है। वर्ष की छः ऋतुएँ, अयनबिंदु व संपातबिंदु वैदिकों को ज्ञात थे। यही नहीं, पूर्व व पश्चिम बिंदु भी उन्हें ज्ञात थे। उसी प्रकार आज के समान ही ३६० दिनों का वर्ष व अधिक मास भी इन्हें ज्ञात था, यह **"वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः वेदाय उपजायते"** (ऋ० १-२५-८) से स्पष्ट होता है। इसी कारण गत पीढ़ी के धर्ममार्तण्ड वाई निवासी पं० काशीनाथ शास्त्री लेले ने लोकमान्य के ध्रुव सिद्धान्त की आलोचना करते हुए उसे मिथ्या घोषित किया है। परन्तु लोकमान्य तिलक का कहना यह नहीं है कि ऋग्वेद की रचना करने वाले वैदिक ऋषि उत्तर ध्रुव के समीप रहते थे। उनका कहना तो यह है कि उनके पूर्वज अत्यंत प्राचीन काल में वहाँ रहा करते थे तथा उन पूर्वजों ने वहाँ जिन बातों का प्रत्यक्ष अनुभव किया था वे बातें परम्परा से वैदिक ऋषियों को ज्ञात थीं। उनका प्रश्न मूलगृह संबंधी है और इस कारण इस प्रकार के थोड़े से उल्लेख भी महत्वपूर्ण हैं। हमने ध्रुव संबंधी जो विशेषताएं देखीं उनका उल्लेख ऋग्वेद में निम्नानुसार है :—

"यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुतद्याम् ।" (ऋ०१०-८९-४) 'जिस प्रकार धुरी चाक को सम्हालती है उसी प्रकार अपनी शक्ति से जो पृथ्वी व आकाश को पृथक् सम्हालता है...।' "आवंशे द्यामस्ताभयत्" (ऋ० २-१५-२) 'बिना लाठी के आकाश को सम्हाल कर रखा...।'

"य इमे द्यावापृथिवी जजान उर्वीगभीरे रजसी सुमेके अवंशे धीरः शच्या समैरत् ।" (ऋ० ४-५६-३) 'जो इस कारण विस्तीर्ण द्यावापृथिवी को उत्पन्न कर उस सुन्दर व विस्तीर्ण लोक को स्तम्भ के बिना केवल अपनी शक्ति से ही प्रेरित करता है...।'

"स सूर्यः पर्युरूवरांस्येन्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्रा ।" (ऋ० १०-८९-२) 'वह सूर्यरूपी इन्द्र विशाल विस्तार को अर्थात् तारागणयुक्त आकाश को रथ के चाक के समान चक्कर लगवाता है ।'

इस प्रकार तारागणों से युक्त आकाश की चक्राकार गति व उसे स्तंभ के बिना सम्हाले रखने की बात का एक साथ विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह केवल ध्रुवप्रदेश संबंधी विशेष दृश्य ही है । शीतोष्ण व उष्ण कटिबंध में भी नक्षत्रों की चक्राकार गति दिखती है, परन्तु स्तम्भ के बिना आकाश को सम्हाल रखने की कल्पना केवल ध्रुवप्रदेश के दृश्य की ओर देखकर ही हो सकती है । उसी प्रकार अपने यहाँ यह कल्पना अस्थिमज्जागत हो गई है कि देवताओं का रात व दिन मनुष्यों के छः छः महीनों के बराबर होते हैं तथा अपना एक वर्ष उनके एक अहोरात्रि के बराबर है । यह कल्पना ब्राह्मण ग्रंथ जितनी ही प्राचीन है, यह तैत्तिरीय ब्राह्मण के वाक्य **"एकं वा एतद्देवानां अहः यत् संवत्सरः"** (जिसे संवत्सर कहते हैं वह देवताओं का एक दिवस है) से स्पष्ट है । यह बताने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पना केवल ध्रुवविशिष्ट दिनमान के संबंध में ही लागू हो सकती है, अन्य किसी भूभाग के लिए वह लागू नहीं होती । खास ऋग्वेद में तो छः महीने के दिन व छः महीने की रात का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता; जेंदावेस्ता में अवश्य उसका उल्लेख प्राप्त होता है । परन्तु दीर्घ दिवस व दीर्घ रात्रि का उल्लेख अवश्य ही ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है । ऋग्वेद के परिशिष्ट में दुर्गा कहकर जिस दीर्घ शारदीय रात्रि का उल्लेख किया गया है, व उसकी प्रार्थना की गई है, वह रात्रि तीन सौ साठ दिवस वाले वर्ष की रात्रि नहीं है, यह बताने की आवश्यकता नहीं । ऋग्वेद के उषासूक्त को देखने पर यह समझने में देर नहीं लगती कि वह उषा हिंदुस्थान की अहोरात्रि की उषा न होकर ध्रुवप्रदेश की अनेक दिनों तक टिकने वाली उषा है । हमने देखा ही है कि ध्रुवप्रदेश व ध्रुववृत्त के अंतर्गत प्रदेश में उषा किस प्रकार की होती है । अतएव उस संबंध में ऋषि क्या कहते हैं यह देखने पर इस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है । ऋग्वेद में उषा सबसे अधिक

महत्व की देवी है तथा उसका बीस सूक्तों में वर्णन हुआ है । ये उषासूक्त इतने मनोहर हैं कि उनके स्वरूप को देखने पर यह मानना असंभव हो जाता है कि उष्ण व समशीतोष्ण कटिबंध में रोज दिखने वाली घंटे डेढ़ घंटे की उषा के लिए वैदिक ऋषियों ने इतनी प्रतिभा खर्च की होगी । वैदिक उषा का दीर्घकाल ऐतरेय ब्राह्मण से भी सिद्ध होता है । **"गवामयनं"** नाम के सत्र को प्रारंभ करने के पूर्व होता एक सहस्र मंत्रों का पाठ करे, ऐसी विधि है । इन मंत्रों को **'आश्विन शस्त्र'** कहते हैं । वे उषा, अग्नि व अश्विन द्वय—इन प्रातः कालीन देवताओं के लिए हैं । इस शस्त्र को तब कहना होता है जब **"तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् प्रकाशीभावस्य अनुविष्ठम्भम्"** अर्थात् रात्रि का अंधकार उषःकाल के प्रकाश से नष्ट होने लगता है । इस निरुक्त के वचन को देखने से ऐसा लगता है कि शस्त्र कहने का समय मध्यरात्रि के बाद उषःकाल का समय होगा । इस शस्त्र का पठन करने के पूर्व क्या करना चाहिए, इस संबंध में बताते हुए ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है : **"नाश्विनं हैव तद्यदर्वाक् सहस्रं तस्मात् तत्सहस्रं वैव शंसेत् भूयो वा, प्राश्य घृतं शंसेत् यथा ह वा इदं मनो वा रथो वाक्तो वर्तत एवं है वाक्तो वर्तते"** अर्थात्, इस शस्त्र का पठन करने के पूर्व होता को घृत भक्षण करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार चाकों को तेल देने पर गाड़ी ठीक तरह से चलती है उसी प्रकार घृत भक्षण करने से होता को पठन करना सरल हो जाता है । इस वाक्य के द्वारा इस शस्त्र की दीर्घता स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है । आश्वलायन श्रौतसूत्र व आपस्तंब श्रौतसूत्रों में भी इस आशय के वाक्य प्राप्त होते हैं । **"यस्याश्विने शस्यमाने सूर्यो नाविर्भवति सौर्यं बहुरूपमालभेत सर्वा अपि दाशतैरनुब्रूयात् ।"** 'सूर्योदय के पूर्व ही यदि यह शस्त्र पूरा हो जाय तो सूर्योदय होते तक दूसरा मंत्र कह कर पाठ चालू रखना चाहिए । यह शस्त्र समाप्त होने पर यदि आवश्यकता पड़े तो ऋग्वेद के दसों मंडल कहे जाएं ।' उषा के उदय के पश्चात् इस हजार मंत्रों वाले शस्त्र का प्रारंभ करना चाहिए तथा उसके समाप्त होते तक भी यदि सूर्योदय न हुआ तो संपूर्ण ऋग्वेद संहिता का पाठ करना चाहिए इसका सरल अर्थ क्या यही नहीं है कि अपने नित्य परिचय की घन्टे डेढ़ घन्टे की उषा से इस विधि का कोई सम्बन्ध नहीं है? कई दिनों तक टिकनेवाली उषा के विना यह विधि संभव नहीं । इससे भी अधिक स्पष्ट उल्लेख निम्नानुसार है :—

तानि दहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य ।
यतः परि जार इवाचरन्ति उषो ददृक्षे न पुनर्यतीव ॥

'उषा के प्रथम दर्शन से लेकर सूर्योदय होते तक कितने ही दिन बीत गये । इन दिवसों के चारों ओर उषा इस प्रकार घूमती हुई दिखाई दी मानो अपने प्रियतम के चारों ओर चक्कर लगा रही हो ।' इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि

अनेक दिवसों तक दिखनेवाली यह उषा ध्रुववृत्त से ही संबद्ध है। यही नहीं ऋग्वेद में तो यह भी कहा गया है कि उषा का उदय होकर इतने दिन बीत गये किन्तु अभी तक सूर्य का उदय नहीं हुआ है, अतः क्या किया जाय? ऋग्वेद में उषा से संबंधित जो वर्णन हैं, उनसे उसकी निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं तथा ये विशेषताएँ केवल ध्रुववृत्त की उषा में ही संभव हो सकती हैं—

१. ऋग्वेद में वर्णित उषा इतनी दीर्घकालीन थी कि उसके प्रथम दर्शन से लेकर सूर्योदय तक कितने ही दिन (चौबीस घंटों के) बीत जाते थे। अथवा अनेकों उषाएं एक के पश्चात् एक आती जाती थीं और अंत में उनका पर्यवसान सूर्योदय में होता था। (ऋ. ७-७६-३ व २-२८-९)
२. ऋग्वेद में उषा संबंधी जो बहुवचनी प्रयोग हैं वे केवल आदरसूचक अथवा वर्ष की तीन सौ साठ उषाओं के निदर्शक न होकर ध्रुव प्रदेश की दीर्घ उषा के तीस भागों के द्योतक हैं। (ऋग्वेद १-२३-८; ६-५९-६; तैत्तिरीय संहिता ४-३-११-६)
३. कई उषाएँ एक ही स्थान पर रहती हुई एकमत से चला करती थीं तथा उनमें कभी झगड़ा नहीं होता था।
४. उषा के तीस भाग पृथक् पृथक् न होकर परस्पर एक दूसरे से संलग्न थे व इस प्रकार अखंडित थे।
५. ये तीस उषाएं अथवा एक ही उषा के तीस भाग चक्रानुसार घूमते घूमते पुनः एक स्थान पर आ जाते थे।

ऋग्वेद में जहाँ इन दीर्घ उषाओं का वर्णन है, वहाँ दीर्घ रात्रियों का वर्णन भी है तथा इन दीर्घरात्रियों से मुक्ति पाने के लिए स्पष्ट प्रार्थनाएं भी की गई हैं। वैदिक ऋषि कहते हैं:—

अदिते मित्र वरुणोत मृल यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः ।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभिनशन्तमिस्राः ।।

(ऋ. २-२७-१४)

"हमने तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो क्षमा करना, हमें निर्भय प्रकाश प्राप्त होवे तथा दीर्घ रात्रि का सामना न करना पड़े।" गृत्समद द्वारा अदिति मित्र व वरुण से की गई यह प्रार्थना अति दीर्घ रात्रि के भय को स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है। और भी कुछ उल्लेख इसी प्रकार के प्राप्त होते हैं:—

प्रपन्नोऽहं शिवां रात्रि भद्र पारमशीमहि ।
रात्रि रात्रिमरिष्यन्तस्तरेम तन्वा वयम् ।।

इस अथर्ववेद की प्रार्थना में कहा गया है कि 'हमें दूसरे तट पर पहुँचा दो'

हमारी प्रत्येक रात्रि हमारे शरीरों को हानि पहुँचाये बिना ही समाप्त हो जाए।' इस उद्गार का स्पष्टीकरण करते समय उत्तरध्रुव की कल्पना न होने के कारण सायणाचार्य बड़े असमंजस में पड़ गये तथा अंत में उन्होंने यह हास्यास्पद स्पष्टीकरण दिया कि शीत ऋतु को लंबी रातों से भयभीत होकर यह प्रार्थना कही गई थी। सूर्योदय होगा या नहीं, इस प्रकार का संशय उत्पन्न करने वाली रात्रि अतिशय भयानक रही होगी, इसीलिए मंत्रद्रष्टाओं को उनके नाश के लिए देवों की प्रार्थना करनी पड़ी। अर्थात् वह ध्रुव प्रदेश की ही रात होगी। ऋग्वेद में सूर्य को दक्षिण का पुत्र कहा गया है। सूर्य का दक्षिण में उगना केवल ध्रुववृत्त में ही संभव है। इस कारण यह स्पष्ट है कि यह वर्णन उत्तर ध्रुव प्रदेश के सूर्योदय का है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ ही, अथवा यों कहा जाय कि मुख्यतः इसी प्रमाण के आधार पर लोकमान्य ने अपना सिद्धान्त खड़ा किया कि वैदिकों के पूर्वज उत्तर ध्रुव प्रदेशों में रहते थे तथा बाद में उसकी पुष्टि के लिए गाथाशास्त्र, अनेक रूपकात्मक कथाओं व अवेस्ता के प्रमाणों का उपयोग किया। उन्होंने जिन मुख्य बातों के आधार पर अपना सिद्धान्त खड़ा किया उन्हीं का यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है। इतर सहायक प्रमाणों का उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। इस सिद्धान्त को ठोस करने के लिए यह सिद्ध करना आवश्यक है कि ध्रुव प्रदेश किसी समय मनुष्य वसती के योग्य था। इसके लिए उन्होंने भूगर्भशास्त्र के निम्नलिखित सिद्धान्त का सहारा लिया है—

१. भूगर्भशास्त्र के नवीनतम अनुसंधानों के निश्चयात्मक प्रमाणों द्वारा यह पता चलता है कि हिमकाल की समाप्ति होकर हिमोत्तर काल को प्रारंभ हुए दस हजार वर्ष बीत गये होंगे। सायबेरिया में प्राप्त जानवरों के मृत शरीरों के ताजेपन को इस मत की पुष्टि प्राप्त होती है।

२. मनुष्य केवल हिमोत्तर काल का ही प्राणी नहीं है। उसका अस्तित्व तृतीय युग में भी था और चतुर्थ युग में वह सर्वत्र फैला हुआ था।

३. आज तक कम से कम दो हिमकाल व बीच में एक हिमान्तर काल हो चुके हैं। इस हिमान्तर काल में पृथ्वी पर जमीन व पानी का विभाजन आज से भिन्न था।

४. चतुर्थ युग के प्रथमार्ध में हवा की स्थितियों में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए। हिमकाल में वह बहुत ठंडी थी तथा हिमान्तर काल में ध्रुवप्रदेश में भी वह सौम्य व समशीतोष्ण थी।

५. एशिया व यूरोप दोनों खंडों के ध्रुव के पास के प्रदेशों में हिमान्तरकाल में ठंडी ग्रीष्म ऋतु तथा उष्ण शीत ऋतु होने के कारण उस समय वहाँ अक्षय वसन्त का साम्राज्य था और आजकल केवल समशीतोष्ण और उष्ण कटिबंधों में पाई जानेवाली वनस्पतियाँ पहले स्पिट्सबर्ज सरीखे प्रदेश में भी,

जहाँ कार्तिक से चैत्र तक सूर्य क्षितिज के नीचे रहता है बड़े जोरों से उगती थीं, यह दिखाने के लिए कई आधार हैं। इस सौम्य जलवायु में हिमकालावतार के कारण विकृति उत्पन्न हुई और परिणामतः वह प्रदेश उष्ण कटिबंध के प्राणियों व वनस्पतियों के योग्य नहीं रहा।

इस पर से डॉ० वारेन् सरीखे विद्वानों ने ऐसा प्रतिपादित किया है कि ध्रुवप्रदेश के वसतिक्षम होने के कारण केवल आर्यों का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति का ही मूल वहाँ पर था। लोकमान्य तिलक के इस सिद्धान्त के प्रसिद्ध हो जाने के पश्चात् उसके पूर्व की समस्त उपपत्तियाँ पीछे पड़ गईं और उत्तरध्रुव को ही आर्यों का मूल वसतिस्थान माना जाने लगा। उसी के सहारे फिर वैदिक साहित्य के देवतावाद की उपपत्ति खोजने की अग्रगण्य अन्वेषकों में एक होड़ सी लग गई। इस दृष्टि से गुरुवर्य महामहोपाध्याय पं० कृष्णशास्त्री घुले के प्रसिद्ध निबन्ध 'महादेव का मूल स्वरूप' तथा पं० सातवलेकर के कुछ लेखों की ओर अंगुलिनिर्देश किया जा सकता है। परन्तु सभी विद्वानों को लोकमान्य का यह सिद्धान्त मान्य नहीं हुआ। ऐसे भी अनुसंधानकर्त्ता आगे आये जिन्होंने अनेक कठोर परीक्षणों के उपरान्त यह प्रतिपादित किया कि आर्यो का मूलस्थान उत्तरध्रुव नहीं बल्कि हिंदुस्थान ही था। इनमें काशीनाथ शास्त्री लेले, श्री नानासाहेब पावगी, गुरुवर्य श्री अप्रबुद्ध तथा डॉ० अविनाशचन्द्र दास अग्रगण्य हैं। श्रीकाशीनाथ शास्त्री लेले ने केवल उन्हीं प्रमाणों को उपस्थित किया है जो ऋग्वेदीय आर्यों का हिंदुस्थान में रहना सिद्ध करते हैं। परन्तु केवल इतने से लोकमान्य के सिद्धान्त का खंडन नही होता, यह हम पहले देख ही आये हैं। श्री पावगी व गुरुवर्य श्री अप्रबुद्ध को ध्रुवसिद्धान्त से विरोध नहीं है, परन्तु वह आर्यों का मूलस्थान था, यह मात्र उन्हें मान्य नहीं है। लो० तिलक के सिद्धान्त का वास्तविक विरोध डॉ० अविनाशचंद्र दास ने किया है। इस कारण इस संबंध में उनका क्या कथन है यह देखना आवश्यक है। अपने ग्रंथ 'ऋग्वेदिक इंडिया' में उन्होंने लो० तिलक के मत का खंडन कर भूगर्भशास्त्र के आधार पर हिंदुस्थान को ही आर्यों का मूलस्थान बताया है। उनके इस कथन के द्वारा इस प्रश्न पर मूलगामी आघात होने के कारण उसके स्वरूप का दर्शन करना अत्यन्त आवश्यक है।

डॉ० अविनाशचंद्र दास

डॉ० दास का ग्रंथ लोकमान्य के निधन के पश्चात् प्रसिद्ध हुआ। लोकमान्य तिलक उनका प्रतिवादन नहीं देख सके, इस कारण श्री दास को जो दुःख हुआ उसका उन्होंने अपने ग्रंथ में वर्णन किया है। तिलक के सिद्धान्त के संबंध में उनके मुख्य आक्षेप इस प्रकार के हैं—

१. ऋग्वेद में इस बात का यत्किंचित् भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता कि सप्त-सिंधु प्रदेश में वैदिक आर्य बाहर से आये तथा उनका मूल वसतिस्थान हिमप्रलय की आपत्ति में नष्ट हो गया। इस संबंध में समस्त पाश्चात्य अन्वेषक एकमत हैं एवं लोकमान्य को भी यह बात मान्य है।

२. लो० तिलक मनु के जलप्रलय व मत्स्यावतार की कथा हिमप्रलय निदर्शक मानते हैं। परन्तु वह कथा हिमप्रलय की निदर्शक न होकर केवल जलप्रलय की निदर्शक है। उत्तरध्रुवप्रदेश में तो हजारों फुट ऊँची बर्फ की सतह जमा करनेवाला हिमप्रलय हुआ था, जलप्रलय नहीं हुआ था। इसके अलावा इस जलप्रलय का भी ऋग्वेद संहिता में कहीं उल्लेख नहीं मिलता, उसका उल्लेख ऋग्वेद के मान से बहुत ही अर्वाचीन ग्रंथ 'शतपथ ब्राह्मण' में प्राप्त होता है। 'अवेस्ता' के हिमप्रलय व 'शतपथ' के जलप्रलय को एक मानने का कोई कारण नहीं है। इसके अलावा यह स्पष्ट वर्णन भी मिलता है कि मनु ने प्रलय से बचने के लिए नौका का आश्रय लिया। इतने उन्नत नौकानयन व इस प्राणान्तक आपत्ति से अत्यन्त चमत्कारिक ढंग से छुटकारा पाने वाली बात को वैदिक ऋषियों ने उल्लेख योग्य भी न समझा, यही बात क्या यह नहीं दर्शाती कि यह घटना उनके काल की नहीं है ?

३. लोकमान्य तिलक ने ध्रुव संबंधी जो विशेषताएँ बतलाई हैं, उनका ऋग्वेद में पता तक नहीं है। उन्हें सिद्ध करने के लिए वे जो प्रमाण देते हैं वे सारे ही तैत्तिरीय ब्राह्मण, महाभारत, मनुसंहिता, पुराण व सूर्य-सिद्धान्त सरीखे बिलकुल अर्वाचीन ग्रंथों के हैं। इन अर्वाचीन ग्रंथों के प्रमाण केवल यही दर्शाते हैं कि उत्तरध्रुव प्रदेश के दृश्यों के वर्णन इन लोगों को बाहर से सुन-सुन कर प्राप्त हुए थे। ऋग्वेद के काल में अथवा उसके पूर्व आर्यों का उस प्रदेश से कोई संबंध था, अथवा वह उनका मूल स्थान था, यह बात इस उत्तरकालीन वर्णन से कैसे सिद्ध हो सकती है? तिलक के ही शब्दों में यदि कहना हो तो कह सकते हैं कि, "कुछ इने-गिने वाक्यों को छोड़कर ऋग्वेद में एतत्संबंधी कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होते।" और जिन इने-गिने वाक्यों का वे उल्लेख करते हैं उनका भी अर्थ वैसा नहीं होता जैसा उन्होंने लगाया है। कम से कम छः महीने का दिन व छः महीने की रात्रि का तो उल्लेख होना ही चाहिए। और फिर उत्तरकालीन साहित्य में भी क्या दिखाई देता है? उस साहित्य के समस्त वर्णनों से तथा वह देवों का प्रदेश है इस बारबार के उल्लेख से इतना ही निष्पन्न होता है कि उत्तरकालीन ग्रंथों में ध्रुवप्रदेश का अति-मानवी शक्ति के स्थान के रूप में वर्णन किया गया है। और इससे ही क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि वैदिकों ने ध्रुवप्रदेश के बारे में जब भी सुना, यही सुना कि वह स्थान मनुष्य की वसति के योग्य नहीं है।

४. लो० तिलक कहते हैं कि देवयान व पितृयान शब्दों का मूल अर्थ उत्तरायण व दक्षिणायन है अर्थात्, देवों का दिवस व उनकी रात्रि। परन्तु यह केवल कल्पना है। देवयान याने देवों का मार्ग और पितृयान याने पितरों का मार्ग, यह योग्य अर्थ समझ लेने पर उनका अन्य कोई अर्थ करना अनुचित होगा।

५. ऋग्वेदीय ऋषियों का स्पष्ट कथन है कि ऋग्वेद में वर्णित उषा, जिसके दीर्घत्व के विषय में लोकमान्य ने इतना लिखा है, पूर्व में ही उदित होती है। यदि वास्तव में वह अनेक दिवसों तक टिकनेवाली ध्रुवप्रदेश की उषा होती तो लोकमान्य के कथनानुसार उसे दक्षिण में ही उगना चाहिए था। केवल शब्दार्थ की खींचातानी कर उषा का दीर्घत्व सिद्ध करते समय उन्होंने उन वर्णनों की ओर क्यों दुर्लक्ष किया जिनमें उषा का पूर्व की ओर उदित होना बताया गया है, यह समझ में नहीं आता। यदि यह मान लिया जाय कि हिन्दुस्थान के ऋग्वेदीय ऋषियों के पूर्वज उत्तरध्रुव प्रदेश में रहते थे तो यह निष्कर्ष स्वभावतः ही निकलता है कि अन्य किसी भी स्थान में दिखाई न पड़ने वाले उषा के दक्षिण में उदित होने का वृत्तान्त आश्चर्य के नाते उन्होंने अवश्य ही वर्णित किया होता। उषा पूर्व की ओर उगती है, इसका अर्थ ही यह है कि वह अपने नित्य अनुभव में आने वाले दिवस व रात्रि की सखी भारतवर्ष की उषा ही है। ऋग्वेद में छः महीने की रात्रि व छः महीने के दिन का भी उल्लेख नहीं है। लो० तिलक के उषा के सुन्दर वर्णन को मान्य करने पर भी वह उषा दो मास तक टिकनेवाली उषा नहीं थी, यह स्पष्ट है। उन्होंने गवामयन और आश्विनशस्त्र का प्रमाण दिया है, परन्तु उसका योग्य परीक्षण करने पर दिखाई देता है कि मूलतः वह शस्त्र सायंकाल से प्रातः काल तक कहा जाता था। यह विधि वार्षिक सत्र के दूसरे दिन की है। पहली रात्रि तीन प्रहरों में विभाजित थी और उसमें बारह सूक्त, अर्थात् एक प्रहर में चार सूक्त कहे जाने की पद्धति थी। आश्विन शस्त्र हजार मंत्र का है। परन्तु जिसे इस बात की कल्पना है कि कुशल वैदिक कितनी द्रुतगति से मंत्र कहता है, वह इस बात की कल्पना सहज ही कर सकता है कि इन सूक्तों को कहने में कितना समय लगता होगा। सामान्यतः इन सूक्तों को कहते तक सूर्योदय होना चाहिए, ऐसा गृहीत रखा गया है। अश्विनी के उदय से लेकर सूर्योदय तक छः घंटे होते हैं। एक हजार श्लोक कहने के लिए दो मास की उषा के पश्चात् उगने वाले सूर्य की आवश्यकता है, यह बात भला किसे मान्य हो सकती है ? ऋग्वेद के दस मंडलों को कहने के लिए भी इतना समय नहीं लगता। सूर्योदय नहीं हुआ तो ही ये

प्रायश्चित्त करने चाहिए । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हजार मंत्रों के उच्चारण में सूर्योदय हो ही जायेगा, यह बात मान ली गई है । इस बात पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह उषा सामान्य उषा ही है । घंटे डेढ़ घंटे की उषा के लिए वैदिक ऋषि अपनी प्रतिभा क्यों खर्च करेंगे, ऐसा कहते समय लोकमान्य ने कवि-मन की स्थिति की ओर ध्यान नहीं दिया है । कविमन का उषा की सुन्दरता की ओर झुकाव उसके शीघ्र समाप्त होने के कारण ही है । यदि वह दो महीने तक उसी प्रकार रहने वाली व चौबीसों घंटे दिखाई देने वाली उषा होती तो उस दृश्य से कवि का मन कभी का ऊब गया होता । लोकमान्य तिलक ने 'शश्वत्' का अर्थ जो सातत्य पर माना है उसके लिए कोई आधार दिखायी नहीं देता । 'खंड न पड़ते हुए नियमित रूप से' ऐसा उसका सरल अर्थ किया जा सकता है । उषा के पूर्व की ओर उदित होने का तथा अश्विनी के उदय से लेकर सूर्य के उदय तक ठीक जमने वाली विधि का विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह उषा, जैसा सायण कहते हैं, यहीं की है । ऋग्वेद कहता है—

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते । (ऋ० १-९२-१)

अर्थात् पूर्व दिशा में उषा का ध्वज प्रत्येक वस्तु को भासमान करता हुआ दिखायी दे रहा है । लोकमान्य ने भी इस ऋचा का उल्लेख किया है परन्तु अपने विवेचन में उषा के पूर्वाभिमुख ध्वज के बारे में वे पूर्णतः मौन हो गये हैं ।

६. दीर्घ दिवस रात्रि का ऋग्वेद में उल्लेख बताते समय लोकमान्य तिलक ने जिन अंशों को उद्धृत किया है, उनमें से इन्द्र-वृत्र का उल्लेख हमें संशयास्पद लगता है । क्योंकि लोकमान्य द्वारा उद्धृत ऋचा से यह सिद्ध होता है कि इंद्र वृत्र को वर्ष में एक बार मारता है । किंतु ऐसे भी उल्लेख ऋग्वेद में हैं जो वृत्रवध के विविध प्रकारों को प्रगट करते हैं । इंद्र वृत्र को जहाँ वर्ष में एक बार मारता है वहाँ, वह वर्ष के अन्य समयों में भी उसे मारता है तथा रोज रोज भी मारता है । ऐसी अवस्था में इन्द्र-वृत्र कथा के आधार पर दीर्घ दिवस व दीर्घरात्रि, और वह भी वर्ष में एक बार, सिद्ध नहीं की जा सकती । अग्निसूक्त का एक उल्लेख भी उन्होंने उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि वह (अग्नि) अँधेरी रात्रि में दीर्घ काल तक सोया । पर वह रात जाड़े की रात भी हो सकती है । उस वाक्य का अर्थ इतना ही है कि दोपहर को एक बारगी होम समाप्त हो जाने के बाद तथा संध्याकाल का होम भी निपट जाने के बाद ढाँकी गई कुंड की अग्नि प्रातः काल तक पुनः यज्ञ के उपयोग में नहीं लाई जाती, क्योंकि इसके ही आगे का अग्नि का वाक्य-इस प्रकार का है कि

देव जब मुझे बुलाते हैं तब मैं अपने तेजसहित प्रकाशित होता हूँ व यज्ञ के बाद उनका काम समाप्त होने पर मैं अपने तेज को समेट कर सो जाता हूँ। इसके द्वारा उत्तर ध्रुव प्रदेश की वस्तुस्थिति का किंचित् भी बोध नहीं होता क्योंकि वहां अँधेरी रात में सूर्य सो सकता है, अग्नि कैसे सोयेगा ? उल्टे, अँधेरी रात्रि के कारण वहाँ तो अग्नि प्रकाश की और भी अधिक आवश्यकता होगी। और यहाँ तो देवताओं का काम समाप्त होने पर अर्थात्, एक बारगी यज्ञ में आहुति पड़ जाने पर अग्नि जो अंतर्धान होती है तो फिर पुनः ठीक आहुति के समय ही प्रगट होती है। इसलिए दीर्घरात्रि के अस्तित्व का यह प्रमाण नहीं माना जा सकता।

७. अथर्ववेद व ऋग्वेद के दुर्गास्तवन की जिस प्रार्थना **'भद्रे परमशीमहि'** का लोकमान्य ने उल्लेख किया है, उसका सूक्ष्म परीक्षण करने पर उससे लोकमान्य का कथन सिद्ध नहीं होता। इस प्रार्थना में जो कहा गया है कि क्या हम सुखरूप रात्रि को पार कर सकेंगे? तथा आने वाली प्रत्येक रात्रि बिना किसी संकट के समाप्त हो जाय, वह केवल ब्राह्मणों ने ही कहा है, सबने नहीं। दीर्घरात्रि के अनुभव से कंपित होने वाले वैदिक लोग क्या केवल ब्राह्मण ही थे? ब्राह्मण कहकर जो अलग से स्पष्ट उल्लेख हुआ है, उसका कुछ भिन्न ही अर्थ है। संहिता में स्पष्ट कहा गया है कि

"रात्री चित्रावसुरव्युष्टयै वा एतस्यै पुरा ब्राह्मणा अभेषः।"

इस ऋचा का स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार सायण कहते हैं :

"हेमन्ततो रात्रेर्दीर्घत्वेन प्रभातं न भविष्यत्येवेति कदाचिद् ब्राह्मणा भीता अतः पारमशीयेति प्रार्थनया प्रभातं लभते।" यदि यह ध्रुवसंबंधी बात होती तो वह केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित न होकर सब लोगों के लिए समान होती। यहाँ ब्राह्मण शब्द का 'ऋत्विज' पर अर्थ लेना उचित है और इस दृष्टि से ऋचा की ओर देखने पर सारा संदर्भ समझ में आ जाता है। रात्रि सत्र के समय लगातार कई घंटों तक अखंड स्तोत्र का पाठ करने वाले ब्राह्मणों को सत्रों के दीर्घकालीन होने के कारण अखंड जागरण करना पड़ता था, व इस कारण ऊबकर कब यह रात्रि समाप्त हो, ऐसा उन्हें लगना अत्यंत स्वाभाविक है। इसके विपरीत, यदि यह ध्रुव प्रदेश वाली रात्रि होती तो वहाँ के निवासियों को यह निश्चित रूप से ज्ञात होने के कारण कि ६ महीने बाद वह निश्चित ही समाप्त होगी, उस संबंध में डरने का कोई कारण नहीं रहता। रोज के अनुभव की तथा सब लोगों के नित्य परिचय की बात से कंपित होकर देवों की प्रार्थना करने वाली बात अनुभव के विरुद्ध है। इसके सिवाय यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या ध्रुव प्रदेश की रातें इतनी भयानक थीं ?

८. **"अदिते मित्र वरुणोत मूल वयं चकृमा कच्चिदागः । उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभिनशन् तमिस्राः ।"** (हे अदिति, मित्र व वरुण, हमने यदि तुम्हारा अपराध किया हो तो हमें उसके लिए क्षमा करो। हमें निर्भय प्रकाश की प्राप्ति होवे तथा दीर्घान्धकार से हम त्रस्त न होवें ।) इस प्रार्थना के 'दीर्घा तमिस्राः' शब्दों से लोकमान्य ने ध्रुव प्रदेश रात्रि का अर्थ निकाला है, किंतु यहाँ तमिस्र शब्द का अर्थ भौतिक प्रकाश या अंधकार नहीं है। यदि यह प्रार्थना कहने वाला मनुष्य ध्रुव प्रदेश का निवासी हो तो मृत्यु के पश्चात् आने वाले जीवन के समान अंधकार के पश्चात् प्रकाश अवश्य आयेगा, इसका उसे पूर्ण विश्वास रहेगा व उस प्रकाश के आने का समय भी निश्चित रहेगा । ऋग्वेद की विकसित देव कल्पना की ओर ध्यान देने पर हम कह सकते हैं कि उसे इस बात की पूर्ण कल्पना है कि नैसर्गिक बातें इच्छा शक्ति के द्वारा बदली नहीं जा सकतीं तथा प्रार्थना द्वारा चाहे जिस समय प्रकाश प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये यहाँ 'तमिस्र' शब्द का अर्थ अंतःकरण का कभी न समाप्त होने वाला पापवासना का अंधकार मानना ही उचित होगा। वेदों में प्राप्त होने वाली आदित्य, मित्र व वरुण देवताओं की समस्त प्रार्थनाओं में सर्वत्र वासनामय अंधकार व पाप से बचाने की प्रार्थना की गई दिखाई देती है, व इसी संदर्भ में इस ऋचा का भी अर्थ लेना युक्ति संगत होगा ।

तात्पर्य यह कि ध्रुवविशिष्ट दृष्यों के स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में कहीं भी नहीं हैं तथा जिन उद्धरणों के आधार पर लोकमान्य ने अनुमान लगाये हैं, वे इस दृष्टि से पूर्णतया असंगत हैं ।

दास के आरोपों का परीक्षण

दास व लोकमान्य दोनों ने ही अपने अपने अनुमान ऋग्वेद के संशयित शब्दों के आधार पर लगाये हैं। इस कारण किसका अनुमान सही है और किसका गलत, यह बताना बहुत कठिन है। श्री दास का यह विवेचन कि ऋग्वेद में आर्यों के बाहर से आने तथा मूलगृह का हिमप्रलय सरीखी प्राकृतिक आपत्ति में नष्ट हो जाने का किंचित् भी उल्लेख नहीं है, वास्तव में सही है और यही उनका वास्तविक जोरदार आक्षेप भी है। किसी भी भूभाग के सुसंस्कृत लोगों को अपनी मातृभूमि के संबंध में विलक्षण प्रेम हुआ करता है। अन्य कोई मार्ग ही यदि शेष न रहे तो ही उसका परित्याग हो सकता है और इस प्रकार के परित्याग के पश्चात् भी उसका आकर्षण तथा उसकी स्मृति कभी नष्ट नहीं होती। देवत्व प्राप्त कर लेने के बारे में धन्यता प्रगट करने वाले, जगत् में अपना सामर्थ्य प्रस्थापित करने की इच्छा रखने वाले,

ज्ञानसंपन्न, बलशाली व कर्मयोगी आर्य अपनी मातृभूमि के प्रति इतने कृतघ्न हो जाएंगे एवं नवीन प्रदेश में इतने रममाण हो जाएंगे कि अपनी पूर्व भूमि को पूर्णरूप से विस्मृत कर देंगे, यह कल्पना ही मनुष्य स्वभाव के प्रतिकूल है। पारसियों के अवेस्ता में भी अनैसर्गिक वातावरण के कारण अपने मूल-गृह को छोड़ने की दुःखानुभूति व्यक्त की गई है। तब फिर ऋग्वेदीय ऋषि ही इतने गये बीते कैसे हो सकते हैं? यह प्रश्न स्वभावतः ही मन में उठता है और इस पर से ही यह कहना पड़ता है कि वे मूलत: भारत के ही थे तथा ऋग्वेद काल के पश्चात् ही उनका ध्रुवप्रदेश से संबंध आया होगा। श्री दास के जल प्रलय व मनु की कथा संबंधी अनुमान भी सही लगते हैं। यदि वास्तव में ऐसी कोई घटना प्रत्यक्ष में घटी हो तो उससे अपने बचाव की स्मृति ऋग्वेद में मिलना ही चाहिए। उसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि कुछ थोड़ी सी आलंकारिक व संशयास्पद शब्द रचना के आधार पर ही ध्रुव प्रदेश संबंधी अनुमान निकालना पड़ते हैं। इससे यही सिद्धान्त पुष्ट होता है कि वैदिकों का ऋग्वेद काल के पूर्व उत्तर ध्रुव से कोई संबंध नहीं था। अन्यथा आगे के ग्रंथों के समान ऋग्वेद में भी इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता। परन्तु श्री दास द्वारा लोकमान्य के सिद्धान्तों पर प्रहार करने के लिए फेंका गया महास्त्र कि उषा पूर्व की ओर उगती थी, स्वतः उन पर ही उलटता है। क्योंकि ऋग्वेद में कहीं भी पूर्व शब्द दिशा के अर्थ में नहीं आता। उनके द्वारा लोकमान्य तिलक के विरुद्ध अखंडनीय प्रमाण के नाते उद्धृत ऋग्वेदीय ऋचा के 'पूर्वे अर्धे' शब्द का अर्थ 'आकाश के पहले भाग में' इतना ही होता है। पूर्व दिशा से यहाँ उसका संबंध नहीं। संपूर्ण ऋचा का अनुवाद इस प्रकार है :—

"उन सर्व प्रसिद्ध उषाओं ने अपना ध्वज फहरा दिया है। अंतरिक्ष के पहले आधे भाग में वे अपनी सुन्दर किरणें बिखेरती हैं। अपने शस्त्रों का प्रदर्शन करने वाले किसी योद्धा के समान अपना उज्ज्वल तेज प्रगट करती हुई ये माताएं, ये आरक्त धेनुएं इस ओर आ रही हैं।"

तात्पर्य यह है कि यहाँ दिशा से कोई संबंध नहीं है। तिलक के ध्रुवसिद्धान्त को सहज ही खंडित कर देना जहाँ कठिन है, वहाँ ऋग्वेद के आधार पर उत्तर ध्रुव को आर्यों का मूलगृह सिद्ध करना भी कठिन है। या तो ऋग्वेद संहिता के पश्चात् उनका ध्रुवप्रदेश से संबंध आया होगा व उनके अनुभवों का प्रतिबिंब आगे के साहित्य में मेरु के वर्णन में प्रगट हुआ होगा, या यदि तिलक द्वारा किया गया ऋचा का अर्थ ही ठीक है, तो ऋग्वेद काल में ही आर्यों का उस प्रदेश से संबंध आया होगा। किंतु वह उनका मूलगृह न होकर एक उपनिवेश मात्र रहा होगा। मेरे विचार

से तो ऋग्वेद में मूलगृह का उल्लेख ही न होना तथा उसे छोड़ने की भावना व्यक्त करने वाला एक भी स्पष्ट शब्द प्राप्त न होना व केवल अवेस्ता में ही उसका उल्लेख होना, पर्याप्ति गंभीर अर्थ रखता है। यहाँ पर लोकमान्य तिलक द्वारा अपने सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए दिये गये प्रत्यक्ष प्रमाणों का तथा डॉ० अविनाशचन्द्र दास द्वारा किये गये उनके परीक्षण का ही उल्लेख किया है। क्योंकि अप्रत्यक्ष प्रमाणों का उपयोग केवल प्रत्यक्ष प्रमाणों की सहायता के लिए ही होता है। **इन प्रत्यक्ष प्रमाणों में उषा का प्रमाण बलवत्तर है। परन्तु उससे यह सिद्ध नहीं होता कि उत्तरध्रुव आर्यों का मूल निवास था। उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वह प्रदेश उनका परिचित था। इस कारण ध्रुवसिद्धान्त मान्य करके भी हम कह सकते हैं कि भारत ही आर्यों का मूलगृह था।**

लोकमान्य ने अपने ध्रुवसिद्धान्त का मंडन भूगर्भशास्त्र के आधार पर किया है। इसी भूगर्भशास्त्र के आधार पर डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने भी सप्त-सिंधु (भारत) को आर्यों का मूलगृह सिद्ध किया है।।

डॉ० दास का प्रतिपादन

डॉ० दास को ऋग्लेद में सरस्वती नदी का वर्णन प्राप्त हुआ। ऋग्वेद की यह सरस्वती नदी विशाल है तथा सिंधु के समान ही इसने वैदिक ऋषियों को मनोमोहित किया है। उसके वर्णन में हिमालय से निकलकर समुद्र में मिलने तक का जो उल्लेख है वह इस प्रकार है :—

"एकाचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आसमुद्रात्" (ऋ० ७-९५-२)

'पर्वतराज हिमालय से निकल कर ठेठ समुद्र तक जाकर भिड़नेवाली नदियों में एक सरस्वती ही अत्यंत पावित्र्यपूर्ण व सोज्ज्वल दिखाई देती है।' सरस्वती का यह एक ही वर्णन नहीं है। उसकी विशालता के तथा वह आर्यों को कितनी प्रिय थी यह दर्शाने वाले और भी कई वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद कहता है :—

'अपने सर्वपोषक प्रवाह से यह सरस्वती नदी देखो कैसी बह रही है। लोहे की किलेबंदी के समान उसका सबको आधार है। अन्य समस्त नदियों में यही नदी सर्वश्रेष्ठ है।' (ऋ० ७-९५-१) 'सबके लिए प्रेक्षणीय उस सरस्वती नदी का जो पुष्ट स्तन है उसके रस की हमें प्राप्ति होती है तथा हमें संतति व उत्साह प्राप्त होता है।' (ऋ० ७-९६-६) 'कमल के अंकुर को चुटकियों में मसल देने वाले मनुष्य के समान ही यह भी अपनी सहज लीला से जोश, वेग व उफान के साथ पर्वत के शिखरों को ढहा देती है। ऐसी इस पारावतों का नाश करने वाली सरस्वती की हम, उसका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए, शुद्ध भक्ति व ध्येयनिष्ठा से सेवा करते हैं' (ऋ० ६-६१-२) 'महत्व व महिमा में जो

स्पष्ट रूप से समस्त नदियों में सर्वश्रेष्ठ है, इतर सर्व प्रवाहों की अपेक्षा जिसका प्रवाह सबसे अधिक वेगवान रहता है, परमेश्वर की सेवा निमित्त जिसका पात्र रथ के समान विशाल हो गया है; वह ज्ञानशालिनी सरस्वती वास्तव में अत्यंत स्तुत्य है' (ऋ० ६-६१-१३) । 'हे सरस्वती, तू हमें अमूल्य व अभीष्ट सम्पत्ति की ओर लेजा। अपनी देह का दूध छुड़ाकर तू हमें निर्बल न कर। हमें दूर न हटा। हमारे स्नेह व सेवाभावना को बढ़ावा दे तथा तुझे छोड़कर अन्य किसी देश में जाने के लिए हमें बाध्य न कर।' (ऋ० ६-६१-१४)।

सरस्वती के इन वर्णनों को देखने के पश्चात् यह स्पष्ट दिखाई देता है कि वह कोई सामान्य नदी न होकर आज के गंगा या सिंधु के समान ही बड़ी तथा वेगवान्, विशाल, प्रवाहयुक्त व सीधे समुद्र में मिलने वाली नदी थी। उसके विशाल जलस्वरूप का वर्णन करने वाले वाक्य ही केवल यहाँ दिये हैं। परन्तु ऋग्वेदीय ऋषियों को 'अम्बितमे, नदीतमे, देवितमे' प्रतीत होने वाली यह नदी उनके यज्ञयागादि के अधिष्ठान उन्हें प्रदान करती होगी तथा उसके उपजाऊ व समृद्ध प्रदेश पर उनका विलक्षण प्रेम उत्पन्न होकर वह प्रदेश यज्ञप्रदेश के नाते उन्हें अत्यंत पवित्र लगता होगा, यह अत्यंत स्पष्ट है। पुराण साहित्य में अत्यन्त पवित्र मानी गई गंगा का ऋग्वेद में केवल उल्लेख मात्र है; उसका सरस्वती सरीखा महत्व नहीं है। दृषद्वती व सरस्वती दोनों ही ऋग्वेद की पवित्र नदियाँ हैं तथा ऋग्वेद के कारण ही उनके पावित्र्य का संस्कार आगे के धार्मिक साहित्य पर इतना पड़ा है कि मनु कहते हैं—

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तद्देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥ —मनुस्मृति २-१७

"सरस्वती व दृषद्वती नदियों के बीच का प्रदेश ब्रह्मावर्त कहलाता है, जो देवनिर्मित प्रदेश है।" पौराणिकों का कहना है कि इस सरस्वती के तीर पर ही महर्षि व्यास का आश्रम था जहाँ पर उन्होंने अपनी ग्रंथसंपत्ति का निर्माण किया। ऋग्वेद में वर्णित इस सरस्वती नदी को यदि हम आज देखें तो उसके वर्णन पर हमें हँसी आये बिना न रहेगी। वह आज समुद्र में नहीं मिलती अपितु राजपूताने के मरुस्थल में ही कहीं लुप्त हो जाती है तथा समुद्र उसके मुख से सैकड़ों मील दूर रह जाता है। तब फिर सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि यह सरस्वती नदी कौनसी होगी? इस संबंध में कुछ पाश्चात्य लेखकों ने अपनी अक्ल लड़ाते हुए कहा है कि ऋग्वेदीय ऋषियों को समुद्र का ज्ञान ही न होगा व इस कारण सिंधु के बड़े प्रवाह को ही उन्होंने समुद्र समझ लिया होगा व सिंधु से मिलने वाले किसी एक प्रवाह का नाम उन्होंने सरस्वती रख दिया होगा। परन्तु पर्वतशिखरों को ढहा देने वाली सरस्वती क्षुद्र प्रवाह नहीं हो सकती यह स्पष्ट है। ऋग्वेद में समुद्र के सैकड़ों उल्लेख हैं। चतुः समुद्रों का भी उसमें उल्लेख है तथा पूर्व व पश्चिम भी उल्लिखित हैं। सिंधु

के प्रवाह में वे नावों द्वारा सैर करते थे। ऐसी स्थिति में यह कहना कि वे समुद्र से परिचित ही नहीं थे, कोई अर्थ नहीं रखता। ऋग्वेद में जहाँ सिंधु से मिलने वाली नदियों का उल्लेख प्राप्त होता है वहाँ उपनाम के नाते समुद्र का वर्णन भी प्राप्त होता है। यह निश्चित है कि उन्हें समुद्र का ज्ञान था। ऋग्वेद में तो सामुद्रिक व्यापार के वर्णन भी प्राप्त होते हैं। तब फिर सरस्वती जिस समुद्र में मिलती थी वह समुद्र कौन सा होगा? इससे यह स्पष्ट ही है कि जिस काल में ऋग्वेद लिखा गया उस काल में सरस्वती आज के समान क्षुद्र प्रवाह न होकर एक प्रचंड नदी थी तथा उसका पर्वतशिखर से निकल कर समुद्र से मिलना वैदिक ऋषि प्रत्यक्ष देखते थे। किंतु प्रश्न है कि क्या वास्तव में कभी ऐसा था? जिस भूगर्भशास्त्र का आधार लेकर लोकमान्य तिलक ने ध्रुवप्रदेश का सिद्धान्त सिद्ध किया है उसी भूगर्भशास्त्र का सहारा लेकर डॉ० दास ने यह सिद्ध किया है कि पहले कभी राजपूताने में समुद्र था; इतना ही नहीं बल्कि राजपूताने से लेकर आसाम तक एक बड़ा समुद्र का पट्टा था व उसके कारण उत्तर व दक्षिण हिंदुस्थान विभाजित थे। उनकी इस खोज के कारण इस शंका का भी उत्तम समाधान होता है कि यदि वैदिक लोग हिंदुस्थान के ही थे तो ऋग्वेद में दक्षिण हिंदुस्थान के प्रदेशों का उल्लेख क्यों नहीं मिलता। दो स्वतंत्र भूविभाग तथा बीच में विस्तीर्ण समुद्र रहने पर उन्हें दक्षिण हिंदुस्थान का ज्ञान न रहना ही स्वाभाविक है। भूगर्भशास्त्री ऐसे समुद्र का होना मानते हैं तथा वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अति प्राचीन काल में हिंदुस्थान देश का विभागीकरण आज की अपेक्षा भिन्न था। श्री वी० वी० केतकर ने सन् १९१९ में पूना की ओरियन्टल कान्फरन्स में जो निबन्ध पढ़ा उसमें स्पष्ट कहा है कि—"Proved on astronomical evidence and Pauranic accounts that Rajputana and the Gangetic seas, nearly separating the Jambudweep (Southern India) from the Punjab and the Himalayas, disappeared seven thousand and five hundred B. C. by the upheaval partly Volcanic and partly seismic of their beds.

(ज्योतिष एवं पौराणिक आधारों पर यह सिद्ध है कि राजपूताना समुद्र व गंगा सागर, जो जम्बूद्वीप (दक्षिण भारत) को पंजाब व हिमालय से अलग करते थे, ईसा के ७५०० वर्षों पूर्व ज्वालामुखी व भूकम्प के कारण नष्ट हो गये।)

श्री वाडिया ने भी अपने ग्रंथ 'Geology of India' में यही लिखा है तथा 'Encyclopaedia Britanica' की ग्यारहवीं आवृत्ति में भी इस विषय का विवेचन देखने योग्य है।

इस प्रकार भूगर्भ शास्त्रीय खोजों की ऋग्वेदीय वर्णनों से संगति बैठती

है। सादे उल्लेखों को भी जब प्रमाण माना जा सकता है, तब फिर भूगर्भशास्त्र के आधार पर सिद्ध किये गये स्पष्ट व जोरदार प्रमाणों को तो और भी अधिक ग्राह्य मानना चाहिए। ऋग्वेद, ब्राह्मण, अवेस्ता, भूगर्भशास्त्र, मेसोपोटोमिया, ईजिप्त, एशियामाइनर आदि की संस्कृति व मानव-जाति-शास्त्र आदि के सहारे डॉ० दास ने निम्नलिखित सिद्धान्त निकाले हैं :—

डॉ० दास का निर्णय

१. "प्रातिनूतन युग तक तथा उसके पश्चात् भी सप्तसिंधु प्रदेश अर्थात् प्राचीन पंजाब समुद्र के कारण दक्षिण भारत से पूर्णरूप से विलग था। यह समुद्र आधुनिक राजपूताना के भाग को आवृत्त करता था तथा पूर्वी आसाम तक फैला हुआ था। इस समुद्र का एक भाग आज की सिंधु घाटी के निचले भाग में उस स्थान तक फैला हुआ था, जहाँ सिंधु की सहायक नदियाँ उससे मिलती हैं। इस प्रकार सप्तसिंधु के तीन ओर तीन समुद्र थे। उत्तर की ओर आधुनिक तुर्किस्तान देश के नीचे के भाग में एक और समुद्र था जो उत्तर में उत्तरध्रुव सागर तथा पश्चिम में कालासागर तक फैला था। यह समुद्र कालासागर, कास्पियन सागर, यूराल सागर तथा बल्खाश झील के रूप में अपने अवशेष छोड़कर अपेक्षाकृत बाद के काल में विलुप्त हो गया और उसकी उथली तली घास के मैदानों में परिवर्तित हो गई। तुर्किस्तान के पूर्व में एक और एशियाई भूमध्यसागर था जो कालान्तर में लोबनार झील रूपी अवशेष छोड़कर विलुप्त हो गया।

---

1. Down to the Pleistocene epoch and even later, Sapta-Sindhu, as the ancient Punjab used to be called, was entirely cut off from Southern India by sea which covered modern Rajputana and extended as far as east Assam. An arm of the sea ran up the present lower Valley of Indus to the point where she was joint by her tributaries. Thus there were three seas on the three sides of Sapta-Sindhu. There was another sea towards the north, below the confines of modern Turkistan extending as far north as the Arctic Ocean, and as far west as the Black Sea, which disappeared in comparatively recent times leaving the Black Sea, the Caspian Sea, the Sea of Aral and the Lake Balkash as its remnants and converting its shallow beds into steppes. There was another Asiatic Mediterranean to the east of Turkistan which also disappeared in comparatively recent times leaving Lake Lobnour as its remnant. These four seas round about Saptasindhu have been distinctly mentioned in The Rigveda thereby proving its

सप्तसिंधु को घेरे हुए इन चार समुद्रों का ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होने के कारण ऋग्वेद की प्राचीनता प्रातिनूतन युग के या उसके बाद के काल तक पहुँचती है। पुराणों में वर्णित अगस्त्य मुनि द्वारा समुद्र का आचमन कर उसे सुखा डालने की तथा विंध्याचल के उन्नत मस्तक को झुकाकर दक्षिण की ओर जाने की कथा उपर्युक्त मत को जोरदार पुष्टि प्रदान करती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऋग्वेद काल में राजपूताने का समुद्र अस्तित्व में था तथा वह आर्यों की दक्षिण की ओर प्रगति में बाधक था।

२. भूगर्भशास्त्रियों ने सप्तसिंधु को भारत का वह प्रदेश माना है जहाँ सर्वप्रथम जीवन उत्पन्न हुआ तथा जहाँ प्राणिजीवन का मनुष्य की निर्मिति तक उत्क्रमण हुआ। अनंत काल से उस प्रदेश में रहने के कारण आर्य उसे अपने मूलगृह के नाते देखा करते थे। दक्षिण भूभाग में अन्य विभिन्न जातियों के मनुष्यों का निवास था जिनमें से अब केवल कोल व द्रविडियन बचे हैं।

३. ऋग्वेद के बाद के काल में राजपूताना समुद्र तल के ऊपर उठ आने के कारण तथा दक्षिण भूभाग के जलमय हो जाने के कारण संभवतः सप्तसिंधु प्रदेश में विशाल जलराशियों सहित विशाल पूर आया। यही मनु

---

hoary antiquity which goes back to the Pleistocene or post-Pleistocene epoch.

The Pauranic legend of Agastya sipping up ocean dry and depressing the high peak of the Vindhyas enable him to go to Southern Peninsula strongly support and corraborate this view. There can be no doubt that Rajputana Sea existed in Rigvedic times barring the progress of the Aryans southwards.

2. Saptasindhu has been admitted by geologists to be the earliest life producing region in the whole of India where the evolution of animal life took place in continuous succession until man was created. As the region was peopled by the Aryans from time immemorial, they came to regard it as their original cradle. The Southern continent was peopled by different families of human beings of which the Kolarians and the Dravidians are the remnants.

3. The upheaval of the bed of the Rajputana sea and the submergence of the Southern continent in the post-Rigvedic times probably caused a heavy flood in Saptasindhu by the displacement of vast volumes of its waters which is known

का जलप्रलय कहलाता है। इन जलराशियों के प्रवाह से विशाल परिणाम में जो भाप के गुब्बारे निकले वे संभवत: उत्तर की ओर जाकर हिमालय और ऐर्यन वायेजो में बर्फ के रूप में जम गये, जिसके कारण वहाँ का भूविभाग नष्ट होकर वहाँ रहने वाले यिमा और उसके आदमियों को उत्तर की ओर निष्क्रमण कर उत्तर ध्रुवप्रदेश में बसना पड़ा जो हिमान्तर काल में सौम्य जलवायु के कारण मनुष्य-वसति के योग्य था। उस प्राचीन काल में, जो ऋग्वेद काल के बाद का ही काल है, आर्यों के एक भाग का ध्रुवप्रदेश की ओर निष्क्रमण आर्यवंश की अतिप्राचीनता सिद्ध करता है। ऋग्वेदीय आर्य न तो ध्रुवप्रदेश की ओर गये और न ही वे वहाँ से आये, क्योंकि ऋग्वेद में इस निष्क्रमण का किंचित् भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

४. पहले सप्तसिंधु की जलवायु ठंडी थी, परंतु कालान्तर में राजपूताना सागर के अदृश्य हो जाने तथा उसके स्थान पर विशाल मरुस्थल के निर्मित हो जाने के कारण वह समशीतोष्ण व गरम हो गई। यह परिवर्तन संभवत: क्रमिक था। ऋग्वेद में वर्ष को पहले हिम, फिर हेमन्त और बाद में शरद् नाम देना इस क्रमिक परिवर्तन का ही सूचक है। इस तथा गंगाघाटी के समुद्र के पूर्णरूप से अदृश्य हो जाने के कारण जलवायु उष्ण हो गई तथा पंजाब में वर्षामान कम हो गया। इस

---

as Manu's flood. The stupendous mass of the vapours generated by the drives of the flood water was probably carried northward and precipitated over the Himalaya and Airyana Vaejo as snow which destroyed the letter region and compelled Yima and his people to migrate northwards and settle down in the Arctic region which in the inter-Glacial period possessed a congenial climate and was tenanted by human beings. This migration of a branch of Aryans to the Arctic region in remote age which was however subsequent to the Rigvedic times, indirectly proves the hoary antiquity of the race. The Rigvedic Aryans never emigrated to nor came from the Arctic region as there is not even the shadow of such emigration in the Rigveda.

4. The climate of Saptasindhu had originally been cold which in the latter age was changed into temperate and hot in consequence of the disappearance of the Rajputana sea and the creation of the vast tract of land desert in its place. The change, however, was probably gradual. The year is first called Hima, then Hemant and lastly Sharad in the Rigveda

कारण हिमालय की निम्नतर पर्वतराशियों की हिमनदियाँ सूख गईं और दृषद्वती और सरस्वती नदियों को आज के बीच-बीच में लुप्त हो जाने वाले क्षुद्र प्रवाह का स्वरूप प्राप्त हुआ। प्राचीन सप्तसिंधु में सरस्वती एक विशाल नदी थी, जिसमें वर्षाऋतु में पूर आते थे तथा उद्गमस्थान पर हिमनदियों से पोषित होने के कारण जिसमें सदैव पानी रहता था।

५. ऋग्वेद में उल्लिखित कृष्णवर्णीय दास व दस्यु कोलेरियन या द्रविडियन नहीं थे। वे या तो भटकने वाले व सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े हुए काले आर्य थे या फिर सुसंस्कृत आर्यों में ही यज्ञ क्रिया को न मानने वाले, वेद व देवों के प्रति श्रद्धा न रखनेवाले स्वैर प्रवृत्ति के लोग थे, जिन्हें उनके काले स्वभाव के कारण 'कृष्ण' कहा जाता था।

६. सप्त सिंधु में 'पाणि' नाम की आर्यों की एक जाति और थी जो 'स्थानीय व सामुद्रिक दोनों प्रकार के व्यापार किया करती थी। परन्तु ये व्यापारी बड़े ही लोभी व स्वार्थी लोग थे, जिनका एक मात्र उद्देश्य उचित या अनुचित उपायों का अवलंबन कर धनसंग्रह करना था। उनकी इस

---

marking its gradual change. The total disappearance of this Sea as well as the sea over the Gangetic trough made the climate hot, diminished the quantity of rainfall in the Punjab thereby causing glaciers in the lower ranges of the Himalayas to disappear and attenuated the Saraswati and Drishadwati into straggling and insignificant streams as they are at present. The Saraswati was however a mighty river in ancient Saptasindhu flooding her valley in the rainy season and had a perrenial flow of water in her bed, probably fed by the glaciers at her source.

5. The dark-skinned Dasas and Dasyus mentioned in the Rigveda were not the people of Kolarian and the Dravidian races but they were either the dark nomadic Aryan savages, the remnant of the race in its onward march towards progress or the non-sacrificing Aryan tribes who did not subscribe to the orthodox Vedic faith and accept the Vedic Gods and hence were put down as blacks to depict their character.

6. There was an Aryan tribe in Sapta-Sindhu called The Panis who were merchants and traded both by land and by sea, but they were a greedy and avaricious people bent only upon amassing wealth by means, fair and foul. This abominable character of the Panis coupled with the fact that they did not subscribe to the Vedic faith or perform the

घृणित मनोवृत्ति के कारण तथा उनका वैदिक धर्म व वैदिक यज्ञ में विश्वास न होने के कारण वे अत्यंत अप्रिय हो गये तथा लोग उनका द्वेष करने लगे। उनमें से कुछ का तो वैदिक आर्यों ने मिलकर इतना प्रचंड विरोध किया कि उन्हें सप्तसिंधु को छोड़कर जलमार्ग से अन्य देशों को चले जाना पड़ा। वहाँ जाकर वे व्यापारी और नाविक के नाते बस गये।

७. इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आर्यों का मूलनिवास न तो यूरोप में था और न उस उत्तरध्रुव प्रदेश में जो उस समय वसतिक्षम था तथा जहां हिमान्तर काल में जलवायु इतनी सौम्य रहती थी कि प्रायः वर्ष भर ही वसंत का आभास होता था। उनका मूलनिवास अन्य कहीं न होकर सप्तसिंधु में ही था। लोकमान्य तिलक कहते हैं कि ऋग्वेद में उत्तरध्रुव को आर्यों का मूलगृह बताने वाले प्रमाण हैं, परन्तु मैंने उनके तर्कों का परीक्षण कर यह सिद्ध कर दिया है कि वे प्रमाण मान्य करने योग्य नहीं हैं। जेंद अवेस्ता में पाये जाने वाले इस प्रमाण से कि प्राचीन काल में आर्यों ने उत्तरध्रुव की ओर निष्क्रमण किया था, यह सिद्ध नहीं होता कि यह स्थान उनका मूलनिवास था अथवा ऐर्यन वायेजो यहाँ पर स्थित था। यह निष्क्रमण ऋग्वेद काल के बहुत समय बाद हिमान्तर काल में हुआ था, जब उत्तरध्रुव प्रदेश वसतिक्षम था। ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों के बारे में मैंने यह जो मत दिया है कि वे प्रातिनूतन युग के, या कम से

Vedic sacrifice made them highly unpopular and dispised. Some of them, were so fiercely persecuted by the combined Vedic Aryan clans that they were compelled to leave Sapta-Sindhus in there ships for other countries, where they settled as traders and mariners.

7. It would thus appear that Europe was not the original cradle of the Aryan race nor was the Arctic region when it was habitable and possessed congenial climate, verging upon perpetual spring in an Inter-Glacial epoch. That cradle was in Saptasindhus and nowhere else. Mr. Tilak thinks that there are internal evidences in the Rigveda which go to prove an Arctic cradle of the Aryans, but I have examined his arguments and found them unconvincing. The evidence to be found in the Zend Avesta of an Aryan emigration to the Arctic region in early times does not prove that this region was their original cradle or the Airyana Vaejo was situated there in. This emigration took place long after Rigvedic times in an inter-glacial epoch when the Arctic region was habitable. As regards my calculation of the

कम उसके बाद के काल के तो अवश्य ही थे, उसके संबंध में वैदिक विद्वान् यह कह सकते हैं कि मैं व्यर्थ ही कल्पना क्षेत्र में भटक रहा हूँ; किंतु यदि भूगर्भशास्त्र के निष्कर्ष सही हैं तो उन पर आधारित मेरा सिद्धान्त भी गलत नहीं हो सकता। ऋग्वेदीय सभ्यता का प्रादुर्भाव सप्तसिंधु में लगभग २५ हजार वर्ष पूर्व हुआ था तथा उसके उच्चतम विकास का काल ईसा के लगभग ७ हजार वर्ष पूर्व था, जिस समय अधिकाँश सूक्तों की रचना हुई। उस समय भी राजपूताने में समुद्र था। निदान अरब समुद्र की एक शाखा तो अवश्य ही वहाँ विद्यमान थी।"

श्री दास ने ऋग्वेद के प्रमाणों तथा उनकी पुष्टि करने वाली भूगर्भशास्त्रीय खोजों के आधार पर अपना सैद्धान्तिक भवन खड़ा किया है। उनका ऋग्वेद का सबसे महत्व का आधार है सरस्वती का उल्लेख। सरस्वती समुद्र से मिलती थी, इस एक ही आधार पर श्री दास ने अपनी इमारत खड़ी की है। किंतु इस एक ही स्तम्भ के ऊपर उनकी इमारत का इतना अधिक आधार है कि उस स्तम्भ के टूटने पर श्री दास की पूरी इमारत ही ढह जाती है। उनके इस आधार-स्तम्भ के ऊपर अनेकों विद्वानों ने जोरदार आक्रमण किये हैं। श्री दास के टीकाकारों में प्रो० क्षेत्रेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, श्री अमिय कुमार चक्रवर्ती तथा मेरे विद्यागुरु महामहोपाध्याय पंडित सम्राट् श्री कृष्ण शास्त्री घुले अग्रगण्य हैं। इनमें से श्री क्षेत्रेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय का कहना है कि "ऋग्वेद काल की संस्कृति लौहयुग की प्रतीत होती है। उस समय राजपूताना का समुद्र कभी का शुष्क हो चुका था। इस कारण राजपूताना समुद्र की कल्पना बिल्कुल ही असंभव है।" परन्तु क्षेत्रेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय एक बात भूल गये हैं कि प्रत्येक प्रदेश में ये युग बदलते रहते हैं, इस कारण ऋग्वेद कालीन संस्कृति लोहयुग की है यह निश्चित करना कठिन है। और फिर डा० दास ने कहा है कि ऋग्वेद के अति प्राचीन सूक्त तब रचे गये जब राजपूताने में समुद्र था। सारी ऋग्वेद संहिता एक ही कालखंड में लिखी न जाकर

---

age of the older hymns of the Rigveda which I have set down to the pleistocene or at any rate to the post-pleistocene epoch, I am afraid that Vedic scholars will accuse me of roaming wildly but if the geological deductions are found to be correct, my calculations, which are based on them cannot be wrong. They will either stand or fall with them. The Rigvedic civilisation had its beginning in Saptasindhus about twentyfive thousand years ago and was at its height probably in the seventh millennium B.C. when most of the Hymns were composed and when there still existed a sea or an arm of the Arabian sea in Rajputana.

उसकी रचना में सहस्रावधि वर्षों का काल लगा है, यह मत समस्त अन्वेषकों को मान्य है। श्री चट्टोपाध्याय का दृष्टिकोण कम से कम टीका हेतु इस मान्यता पर आधारित दिखाई देता है कि ऋग्वेद एक ही काल में रचा गया। श्री अमिय कुमार चक्रवर्ती का कथन है कि "आज भी सरस्वती के गुप्त स्थान को 'विनशन' कहते हैं। 'विनशन' शब्द से स्पष्ट है कि आज जिस स्थान पर सरस्वती लुप्त हुई दिखाई देती है उसके आगे की ओर वह कभी बहती रही होगी। विनशनस्थान यदि समुद्र होता तो उसके उस मुख को विनशन कहने का कोई कारण नहीं था। इसके अलावा महाभारत के शल्य-पर्व में बलराम की तीर्थयात्रा के वर्णन में विनशन क्षेत्र से लेकर अरब समुद्र तक के सरस्वती तीर के अनेक क्षेत्रों के नाम दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि पंजाब में सरस्वती नदी सीधी अरब समुद्र तक जाकर मिलती थी। तात्पर्य यह कि राजपूताना समुद्र की कल्पना भ्रामक है।" श्री चक्रवर्ती ने 'विनशन' शब्द का आधार लिया है जो ऋग्वेदोत्तर कालीन है। इस कारण ऋग्वेद के स्थलनिर्णय की दृष्टि से उसका अधिक उपयोग नहीं हो सकता। राजपूताना समुद्र का अस्तित्व डॉ० दास भूगर्भशास्त्र के आधार पर सिद्ध करते हैं, ऋग्वेद के आधार पर नहीं। भूगर्भशास्त्र में यदि राजपूताना का समुद्र बताया गया है तो उसके अस्तित्व को अमान्य कैसे किया जा सकता है? डॉ० दास की कल्पना में अन्योन्याश्रय का दोष अवश्य आता है। आर्य मूलतः पंजाब के निवासी थे, यह उन्होंने ऋग्वेद के सरस्वती नदी के उल्लेख से निश्चित किया है, व सरस्वती नदी पंजाब की है यह उन्होंने आर्यों के पंजाब के निवास के आधार पर सिद्ध किया है। इसे ही अन्योन्याश्रय कहते हैं। परन्तु यदि सरस्वती पंजाब के अतिरिक्त भारत में अन्यत्र कहीं नहीं है तो उसके सिवाय दूसरे किसी का विचार भी कैसे किया जा सकता है? और फिर डॉ० दास यह भी नहीं कहते कि सप्तसिंधु प्रदेश याने केवल पंजाब। उनका कहना है कि पंजाब, काश्मीर, बाह्लीक, गांधार, बलूचिस्तान व हिमालय का पश्चिमी भाग आर्यों के क्षेत्र हैं। कुछ दिनों तक अन्वेषकों का मत था कि अवेस्ता में वर्णित हरक्कैति नदी सरस्वती ही है परन्तु अब उन्होंने उस मत को त्याग दिया है। डॉ० दास के मत का सूक्ष्म खंडन पं० घुलेशास्त्री ने किया है।

पं० घुलेशास्त्री का मत

महामहोपाध्याय पं० घुलेशास्त्री का कथन है कि "ऋग्वेद पंजाब में तैयार किया गया यह पूर्वग्रह है। वैदिक आर्य कहीं बाहर से घूमते फिरते पंजाब में आए और आते समय जहाँ जहाँ वे गये वहाँ वहाँ की नदियों को उन्होंने अपने अपने साथ लाये हुए पूर्वसिद्ध ऋग्वेद में से नाम दिये। यह बात ध्यान में रख कर फिर यदि हम ऋग्वेद के सरस्वती विषयक मंत्रों का विचार करें तो पता चलेगा कि सरस्वती एवं ऋग्वेदोक्त अन्य नदियाँ भी पृथ्वी की न होकर आकाश

की दिव्य नदियाँ हैं। ऋग्वेद में तो कुछ स्थानों पर समुद्र शब्द का अर्थ भी अंतरिक्ष होता है। यह बात पाश्चात्य विद्वानों को भी मान्य है तथा आर्यों के ग्रंथों में अंतरिक्ष के दिव्य समुद्रों एवं नदियों का वर्णन है। अंतरिक्ष में पर्वत या गिरि के वर्णन भी हैं। उदयास्त अंधकार अथवा मेघों का वर्णन पर्वत कहकर किया गया है। यह स्पष्ट हो जाने पर कि अंतरिक्ष में पर्वत, नदियां व समुद्र रूपक के रूप में आये हैं, मुझे यह समझ में नहीं आता कि सरस्वती को भी अंतरिक्ष की नदी क्यों न माना जाय? उसे दिव्य नदी मानने से ही ऋग्वेद की योग्य संगति जमती है। डॉ० दास ने जो मंत्र दिया है उसका अर्थ भी उसी ढंग से ठीक होता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि सरस्वती द्युलोक के बड़े बड़े पर्वतों में से होकर हमारे यज्ञ तक आवे। सरस्वती दिव्य नदी होने पर ही द्युलोक में से आ सकती है। तीसरे मंत्र में बड़ी बड़ी लहरों के सहारे पर्वतों के शिखरों को फोड़ने वाली सरस्वती को 'पारावतघ्नी' कहा गया है। इसका अर्थ पाश्चात्य पंडित नहीं लगा सके। डॉ० प्राणनाथ ने पारावत् का अर्थ लगाया है—उत्तर मिस्र में परा नामक प्रदेश के लोग। परन्तु यह गलत है। ऋग्वेद के परावत् व अर्वावत् शब्द का विचार करने पर पारावत् का अर्थ क्षितिज के उस पार अधोगोलार्ध में रहने वाला दैत्य (परावतिभवाः) ही मानना पड़ता है; तथा पारावतघ्नी का अर्थ दैत्यघातिनी ही लेना पड़ता है। परंतु यह पंजाब की सरस्वती नदी के लिए लागू नहीं होता। इसके विपरीत, उसे यदि दिव्य मान लें तो उसका अर्थ ठीक जम जाता है।

"सरस्वती को हिरण्यवर्तनी और वृत्रघ्नी कहा है। वृत्र याने अंधकार। इस बात पर ध्यान देने से सरस्वती को दिव्य नदी क्यों मानना चाहिए यह समझ में आ जाता है। ऋग्वेद में स्थान स्थान पर आया है कि दिव्य उदक के प्रवाह अंधकार का नाश कर चंद्रसूर्यादि तेजो-देवताओं को छुड़ाकर लाते हैं। सरस्वती का वर्णन करते समय उसे त्रिषधस्था, सिंधुमाता, मरुत्सखा आदि विशेषणों के साथ-साथ पावीरवी कन्या याने विद्युत्कन्या कहा गया है। उसी प्रकार उसका बुद्धि की देवी व वाचा की देवी के रूप में भी वर्णन हुआ है। इसीलिए पाश्चात्य पंडित व लोकमान्य तिलक के मतानुसार भी वह दिव्य नदी ही सिद्ध होती है। इन सब कारणों से सरस्वती को पंजाब की सरस्वती न समझकर अंतरिक्ष की नदी समझना ही योग्य होगा। इसे मान लेने पर तथा यह समझ लेने पर कि वैदिक आर्य जहाँ जहाँ गये वहाँ वहाँ की नदियों को उन्होंने ऋग्वेद के ही नाम दिये, इस बात की सुंदर उपपत्ति प्राप्त हो जाती है कि दो भिन्न भिन्न स्थानों पर एक ही नाम की दो नदियाँ कैसे हो सकती हैं।"

गुरुवर्य महामहोपाध्याय पं० कृष्णशास्त्री घुले की अन्वेषण पद्धति एवं उनके पांडित्य के संबंध में कोई संदेह नहीं है। परन्तु उन्होंने संपूर्ण ऋग्वेद को

ही अंतरिक्ष की घटनाओं का रूपक मान लिया है। उनसे अपना मतभेद मैं अत्यंत नम्रतापूर्वक व्यक्त करता हूँ। उनके मतानुसार विश्वामित्र, वशिष्ठ, क्षिति, अदिति, इतना ही नहीं तो दाशराज्ञ युद्ध भी आकाश की ग्रहस्थितियों के रूपक हैं। परन्तु इस पद्धति से शिवाजी का आगरे से छुटकारा या लो० तिलक और गोखले का सूरत में हुआ द्वंद्व भी पूर्णशास्त्रीय परिभाषा के आधार पर ज्योतिष पर रूपक सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु यह पद्धति उचित नहीं है। ऋग्वेद में आर्य शब्द का यदि प्रयोग हुआ है तो केवल ज्योतिष संबंधी रूपक के नाते ही हुआ है तथा ज्योतिष के अतिरिक्त वैदिकों को अन्य किसी विषय का रूपक बिल्कुल भी नहीं भाता था,यह कहना आश्चर्यजनक दुराग्रह है। इसके अतिरिक्त यह साधारण सी बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि रूपक का निर्माण तो बाद में होता है, नामादि पहले से ही किसी स्थान से संबंधित रहते हैं व बाद में वे ही रूपक में प्रयुक्त होते हैं। और फिर वृत्र का अर्थ अंधकार भी क्यों? इन्द्र व वृत्र का स्पष्टीकरण सूर्योदय और अंधकार मानकर करना भी पाश्चात्यों की ही मान्यता है। ऋग्वेद में इंद्र व वृत्र के विपुल उल्लेख हैं तथा उनका आध्यात्मिक दृष्टि से भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। वृत्र तमोमय तो अवश्य है परन्तु वह एक स्वतंत्र कल्पना है। यदि वृत्र का अर्थ अंधेरी रात माना जाय तो ऋग्वेद के 'वृत्र अंधकार में पड़ा' व 'इंद्र ने उसे अंधेरे में डाला' आदि वाक्यों का क्या अर्थ किया जायगा। वृत्र का अर्थ मनुष्य के अंतःकरण का मोहरूपी अंधकार व कल्याणकारक पुण्य-संचय के फलोन्मुख होने में बाधा उत्पन्न करने वाले दुष्टकर्म मानकर गुरुवर्य श्री अप्रबुद्ध ने वृत्र के रूपक का अधिक अच्छी तरह स्पष्टीकरण किया है। वृत्र को 'अहि' कहा गया है। इस पर श्री अप्रबुद्ध कहते हैं : "एकदम प्राणों पर आघात करने वाला, चाहे जहाँ संचार करने वाला, इच्छानुसार सूक्ष्म रूप धारण करने वाला, यत्किंचित् भी आवाज न करते हुए सरसराने वाला, बिल में रहनेवाला, अतिशय चपल और वक्र सर्प किसी भी काल के लोगों का दुष्ट शत्रु ही है। पापकर्म की गति भी उसी प्रकार की है। इस कारण पाप कर्म को दी गई सर्प की उपमा अत्यंत समर्पक है।" वृत्र के इस अर्थ को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अंधकार का नाश करनेवाले दिव्य जल का यहाँ किंचित् भी संबंध नहीं है तथा सरस्वती को वृत्रघ्नी कहने में भारतीयों की आधिदैविक कल्पना ही मूल कारण है। और इस बात पर ध्यान देने से कि प्रत्येक पदार्थ का 'त्रिधानु' शब्द के द्वारा वर्णन करते हुए ऋग्वेद उसकी भौतिक घटना, उसके आधिदैविक स्वरूप तथा उसके आध्यात्मिक आधार का स्पष्टीकरण करता है, सरस्वती को वृत्रघ्नी कहने का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। सरस्वती मूलतः भारत की नदी है; गुरुवर्य श्री घुलेशास्त्री द्वारा उसे दिये गये विशेषण केवल उसके आधिदैविक स्वरूप का वर्णन करते हैं। और फिर घुलेशास्त्री ने

भी, आर्य कहीं बाहर से घूमते फिरते पंजाब में आये इस पाश्चात्यों के सिद्धान्त को ही क्या प्रमाण नहीं माना है? वे मूलतः बाहर के निवासी थे तथा वहाँ से वे हिन्दुस्थान में आये, यही तो पाश्चात्यों को सिद्ध करना है। इस कारण उसे सिद्धान्त मानकर बाकी चीजों की उसके साथ संगति बैठाना उचित नहीं। और फिर यदि दैत्यघातिनी होने के कारण सरस्वती दिव्य नदी है तो ऋग्वेद में उसके कलकल प्रवाह व पर्वत फोड़नेवाले जिस भौतिक स्वरूप का वर्णन है उसे ही केवल रूपक क्यों माना जाय? सरस्वती के संबंध में तो और भी प्रकार के वर्णन हैं। इसके पूर्व सरस्वती का वर्णन करनेवाले जिन मंत्रों का उल्लेख हुआ है उनमें तो ऋषियों ने सरस्वती के जलप्रवाह से दूर न जाने की अपनी इच्छा व्यक्त की है तथा कहा है कि हमारे लिए यह उस शिशु के दुर्दैव जैसा होगा जिसे अपनी माँ के स्तनों से दूर कर दिया गया है। सरस्वती यदि पृथ्वी पर की नदी न होकर अंतरिक्ष की नदी होती तो उसके तीर से दूर न जाने की ऋषियों की इच्छा का क्या अर्थ होता? तात्पर्य यह कि सरस्वती भौतिक नदी ही है। आज की गंगा का वर्णन करते समय श्री जगन्नाथ पंडित ने कहा है—

> **बधानद्रागेव द्रढिमरमणीयं परिकरं,**
> **किरीटे बालेन्दु नियमय पुनः पन्नगगणैः।**
> **न कुर्यास्त्वं हेलामितरजन साधारणतया,**
> **जगन्नाथस्यायं सुरधुनिसमुद्धारसमयः ॥**

अर्थात्, "हे माता! अपना परिकर दृढ़तापूर्वक बाँध। भाल प्रदेश की चंद्रकला को सब बंधनों से बाँधकर रख। तुझे किसी सामान्य पापी का उद्धार नहीं करना है, तेरा पाला तो जगन्नाथ सरीखे अधमाधम से आज पड़ा है।" गंगा का यह वर्णन क्या आधिदैविक ही नहीं है? परन्तु इसके आधार पर यदि कहा जाय कि जगन्नाथ की गंगा हिंदुस्थान की नदी न होकर आकाश गंगा है तो यह कहाँ तक युक्तिसंगत होगा? गुरुवर्य की उपपत्ति के बारे में भी यही बात है। मैं उनका अधिक्षेप बिल्कुल नहीं कर रहा हूँ। वे जिस बुद्धिवाद के उपासक हैं, उसी के अनुसार मैंने यह विश्लेषण किया है।

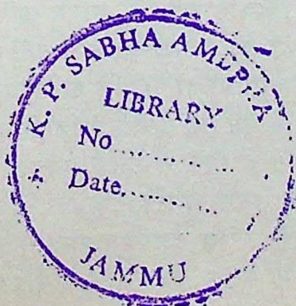
निष्कर्ष

डॉ० दास के सिद्धान्त का वास्तविक दोष इतना ही है कि उन्होंने भूगर्भ-शास्त्र सरीखे अविश्वसनीय शास्त्र पर अत्यधिक भरोसा रखा है। इस कारण उनके ग्रंथ की दो आवृत्तियों में उन्हें सहस्रावधि वर्षों का हेरफेर करना पड़ा है। अपने ग्रंथ की पहली आवृत्ति में जहाँ उन्होंने राजपूताना के समुद्र की घटना के आधार पर ऋग्वेद काल को ६० हजार वर्ष पूर्व का माना है, वहाँ उसी की दूसरी आवृत्ति में उन्हें वह काल २७ हजार वर्ष का मानना पड़ा

है। लो० तिलक के संबंध में भी भूगर्भशास्त्र का यही हाल है। उन्होंने दस हजार वर्ष का काल माना है किंतु वह अमेरिकन शास्त्रज्ञों के मतानुसार है। इंग्लैंड के शास्त्रज्ञ तो उस काल को ८० हजार वर्ष का बतलाते हैं। इनमें से कौन सा काल सच्चा है, इसका शास्त्रीय उत्तर किसी के पास नहीं है। इस कारण इस अन्वेषण में भूगर्भशास्त्र सबल आधार नहीं हो सकता। एक बात अवश्य निश्चित है जो श्री दास ने भी बताई है। वह यह कि ऋग्वेद में आर्यों के भारत के बाहर से आने का कोई प्रमाण नहीं है। अवेस्ता के लोगों को भी जब अपने मूलगृह की विस्मृति नहीं हुई तब फिर वैदिक आर्य ही इतने हृदय शून्य कैसे हो सकते थे कि अपने मूलगृह को पूर्ण रूप से विस्मृत कर देते ? भारत की सिंधु सरस्वती के मातृदर्शन से पुलकित होने वाले तथा उसके वियोग की कल्पना से शिशुवत् जीवन दे डालने का भाव रखने वाले वैदिक ऋषि कहीं बाहर से नहीं आये यह स्पष्ट है। वे हिंदुस्थान के ही थे तथा हिंदुस्थान ही उनका मूलगृह था। यहाँ के ही मूजवान पर्वत पर उनका सोम होता था। यही उनकी जन्मभूमि थी। यहीं पर उन्होंने दिव्यता का साक्षात्कार किया था।

उत्तरध्रुव का स्पष्टीकरण भी सरलतापूर्वक किया जा सकता है। निरे सादृश्यमात्र से ही उत्तरध्रुव प्रदेश मूलगृह नहीं हो सकता। ईसा के २९ सौ वर्ष पूर्व शतपथ ब्राह्मण के काल में भारतीय संस्कृति मध्य एशिया तक फैली थी तथा बाह्लीक सरीखे भारतीय वंश के लोग ईरान तक राज्य करते थे, इसके स्पष्ट प्राप्त होने वाले प्रमाणों पर यदि ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वज्रधारी इंद्र के इन पराक्रमी भक्तों का अपनी संस्कृति के अत्युच्चतम काल में ध्रुव प्रदेश तक धावा बोलना तथा वहाँ पर अपने उपनिवेश बसाना कोई असंभव बात नहीं थी। यही नहीं, पेरू से मेक्सिको तक व कामश्चाटका से मरीलीन द्वीप समूह पर्यन्त समस्त प्रदेशों पर वैदिक संस्कृति की पड़ी हुई छाप जगत् भर में फैले हुए वैदिकों के सांस्कृतिक वर्चस्व की ही द्योतक है। आगे गौतमबुद्ध के काल के पश्चात् यदि चीन जापान से लेकर सर्वत्र जगत् में बौद्ध धर्म का प्रसार करने के लिए बौद्ध भिक्षुओं का जाना संभव हो सकता है, तो इससे भी पूर्व के ऋग्वेदीय काल में आर्यों का भी वसतिक्षम उत्तरध्रुव प्रदेश तक जाकर वहाँ अपने उपनिवेश बसाना सर्वथा संभव है। आज अपना देश बचा सकने की पात्रता न रखने वाले हम सरीखे संकुचित कल्पना के निकम्मे लोगों को यह भले ही सहन न हो, किंतु ईरान तक फैले हुए भारतीय वंशों के राज्यों की ओर ध्यान देने पर आर्यों का अपने मूलगृह भारत से उत्तरध्रुव प्रदेश में जाकर उपनिवेश बसाना अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता। कुछ लोगों के सामने एक बड़ा प्रश्न यह है कि वे अपने उन उपनिवेशों को छोड़कर लौटे ही क्यों? परन्तु इंग्लैंड पर राज्य करने वाले रोमन लोगों को स्वतः के देश पर संकट आने पर

इंग्लेंड छोड़कर स्वदेश लौटना पड़ा, यह ऐतिहासिक घटना यही सुझाती है कि विशेष आपत्तियों के समय देशान्तर करना पड़ता है। ऋग्वेद में सर्वत्र दृष्टि-गोचर होने वाला तथा विपुलमात्रा में प्राप्त होने वाला सोम ऋग्वेद के पश्चात् पूर्णरूप से पृथ्वी पर से नष्ट हो गया। उसके बाद के ग्रंथ अवेस्ता में ही उसके अत्यंत दुर्लभ होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यह घटना ऋग्वेद व अवेस्ता के बीच के काल में सृष्टि में हुए विलक्षण नैसर्गिक परिवर्तन की द्योतक है। आर्यों की एक भी क्रिया सोम के बिना नहीं हो सकती थी। इससे निश्चित है कि उस वनस्पति का धार्मिक प्रवृत्ति के लोग धार्मिक जीवन की दृष्टि से अत्यंत तत्परता से संरक्षण करते होंगे। ऐसी स्थिति में उसके नष्ट होने का कारण अवश्य ही कोई ऐसा प्रलयंकारी संकट हिमप्रलय ही होगा। सोम की विपुलता तथा उसका नष्ट होना, इस ऋग्वेद व तदुत्तर की घटना पर ध्यान देने से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिमप्रलय की घटना ऋग्वेद के काल के पश्चात् तथा अवेस्ता के पूर्व घटी होगी। हिमप्रलय के कारण जो अनंत परि-वर्तन हुए उनके कारण आर्यों को उत्तरध्रुव के निवास को छोड़कर वापस लौटना पड़ा। 'वे आये' ऐसा न कहकर 'वे वापस लौटे' ऐसा कहने से तिलक के ध्रुव-सिद्धान्त में भी कोई बाधा नहीं पहुँचती। इसके विपरीत, 'वे आये' ऐसा कहते समय अवश्य ही यह गृहीत रखना पड़ता है कि ऋग्वेदीय सुसंस्कृत आर्य इतने हृदयशून्य थे कि उन्होंने अपनी मातृभूमि तक का स्मरण न रखा। स्वार्थी लोग इसका राजनैतिक उपयोग भी कर लेते हैं। तात्पर्य यह कि ऋग्वेद में जिनका जीवन प्रतिबिंबित हुआ है, उन वैदिकों का मूलगृह भारत ही था तथा उन्हें हमारे समान ही भारतमाता के स्तन से जीवन प्राप्त हुआ था, यह बात वादातीत है। ध्रुवोपपत्ति के द्वारा भी इसमें बाधा नहीं पड़ती। केवल इसी-लिए कि लोकमान्य तिलक ने इस उपपत्ति का मंडन किया है जो लोग साभि-निवेश उत्तरध्रुव को ही आर्यों का मूलगृह बताते हैं, उन्हें चाहिए कि वे शान्त-चित्त से पुनः एक बार लोकमान्य के ग्रंथ Arctic Home in the Vedas का अध्ययन करें, जिससे वे यह समझ सकें कि भारत को आर्यों का मूलगृह बताने वाला सिद्धान्त लोकमान्य की उपपत्ति में बाधक नहीं होता।



६

वेदों की अपौरुषेयता

वैदिक साहित्य में अपने जिन पूर्वजों का जीवन प्रतिबिंबित हुआ है उनके संबंध में प्रचलित समस्त कल्पनाओं का—जिनका निर्माण मूलतः पाश्चात्य अन्वेषकों ने किया तथा जिनको हमारे यहाँ के बड़े बड़े धुरंधर विद्वानों ने शिरोधार्य किया—हमने आज तक अनुशीलन किया है तथा इस समालोचना से यह स्पष्ट हो गया है कि इनमें की कितनी ही कल्पनाएँ निराधार हैं। वैदिक 'आर्य' शब्द का यूरोपियन 'आर्यन्' शब्द से कोई संबंध नहीं। वेदों में 'आर्य' शब्द गुणवाचक के नाते प्रयुक्त हुआ है। उसी प्रकार 'दस्यु' शब्द भी गुणवाचक ही है तथा 'असुर' शब्द का भी वही हाल है। वेदों के आधार पर वैदिक संस्कृति से भिन्न किसी द्रविड संस्कृति का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता; और न ही उसे सिद्ध करने के लिए अन्य कोई प्रमाण ही उपलब्ध है। और चूंकि वेदों में दृष्टिगोचर होने वाली संस्कृति से अधिक प्राचीन किसी अन्य संस्कृति के अस्तित्व का प्रमाण उपलब्ध नहीं होता तथा चूंकि लोकमान्य तिलक के ध्रुव-सिद्धान्त के आधार पर हिमप्रलय के पूर्व भी वैदिक संस्कृति का अस्तित्व सिद्ध होता है, इस कारण जगत् में अन्यत्र दिखलाई देनेवाली सांस्कृतिक समानताएं निर्विवाद रूप से यही सिद्ध करती हैं कि अन्य संस्कृतियों ने वैदिक संस्कृति का ही अनुकरण किया है। यह स्पष्ट बात यूरोपीय अहम्मन्यता को ठेस पहुँचाने वाली होने के कारण उनके भारतीय वैचारिक दासों को भले ही न रुचे, किंतु निष्पक्षपाती निरीक्षक को इसे मान्य करना ही पड़ेगा। गत प्रकरण में हम देख ही आये हैं कि भूगर्भशास्त्र सरीखे अनिश्चित शास्त्र के ऊपर अत्यधिक विश्वास रखने के कारण अविनाशचंद्र दास का प्रतिपादन किस प्रकार बुद्धि की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। किन्तु इस कारण यह समझने की कोई आवश्यकता नहीं कि आर्यों का मूलस्थान हिन्दुस्थान नहीं था। वैदिक साहित्य में ऐसे कई उल्लेख हैं जिनसे यह स्पष्ट रूप से पता लगता है कि वैदिक संस्कृति के लोगों ने उत्तर ध्रुवप्रदेश में प्रत्यक्ष निवास किया था। दीर्घकालीन उषा, उसका चक्राकार घूमना, दीर्घरात्रि इत्यादि वैदिक साहित्य में प्राप्त होने वाले उल्लेख उत्तरध्रुव प्रदेश में प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाले दृश्यो के निदर्शक होने के कारण, जिन लोगों ने वैदिक संस्कृति का निर्माण किया

उनका निवास कभी न कभी उत्तरध्रुवप्रदेश में अवश्य रहा होगा, यह बात लोकमान्य ने सिद्ध की है। परन्तु लोकमान्य तिलक के सिद्धान्त से इतना ही सिद्ध होता है कि वैदिक लोग उत्तरध्रुव प्रदेश में रहते थे। उत्तरध्रुव प्रदेश उनका मूलस्थान था, यह मानने का कोई कारण नहीं दिखता। अन्य बातें भी, जैसे वैदिकों द्वारा भारत के बारे में व्यक्त किया गया अत्यंत आत्मीयता का भाव तथा ध्रुवस्थान के छूट जाने पर भी मन में किसी प्रकार के दुःख का अनुभव न होना, यही सिद्ध करती हैं कि हिन्दुस्थान ही आर्यों का मूलस्थान है। यह अवश्य संभव है कि पराक्रमी वैदिकों की कोई एक टोली उत्तरध्रुवप्रदेश तक गई हो तथा हिमप्रलय की आपत्ति के कारण वहां से लौटते समय उत्तर-ध्रुवप्रदेश संबंधी स्मृतियाँ अपने साथ लाई हो। शतपथ ब्राह्मण के काल में अर्थात् ईसा के लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व अपना साम्राज्य ईरान तक फैलने का जिन लोगों के बारे में उल्लेख प्राप्त होता है, उन लोगों के पराक्रमी पूर्वजों का साम्राज्य विस्तार करने अथवा उपनिवेश बसाने के लिये उत्तरध्रुव प्रदेश तक पहुँचना, वह भी उस काल में जब कि वह वसतिक्षम था, असंभव मानने में सिवा मन की संकुचितता के और क्या कारण हो सकता है? वे उत्तरध्रुव छोड़कर आये ही क्यों? ऐसा कुछ लोगों का प्रश्न है। उसका चोखा उत्तर है— हिमप्रलय। मातृभूमि पर आई हुई आपत्ति के कारण स्थानीय लोगों के प्रार्थना पूर्वक मना करने पर भी यदि वहाँ राज्य करने वाले रोमन लोग वापस लौट सकते हैं तो फिर आर्य लोगों के ही उत्तरध्रुव से लौटने में कौन सी अस्वाभाविक बात है? इससे यह स्पष्ट है कि लोकमान्य के ध्रुव सिद्धान्त को मान्य करके भी हिन्दुस्थान ही वैदिकों का मूलस्थान है यह मानने में कोई प्रत्यवाय नहीं।

अब तक हमने एक प्रकार से वेदों का, अथवा वैदिकों का, बहिरंग परीक्षण ही किया है। इसके पश्चात् उनके अंतरंग जीवन की ओर उन्मुख होकर वैदिक राष्ट्र का प्रत्यक्ष दर्शन करना क्रमप्राप्त है। परन्तु उसके पूर्व और एक महत्व की वैदिक मान्यता का स्पष्टीकरण आवश्यक होने के कारण मैं वही विषय लूँगा। वह मान्यता याने वेद अपौरुषेय (Divine) हैं।

वैदिक साहित्य मंदिर के द्वार पर खड़े होते ही जिस बात का सर्वप्रथम साक्षात्कार होता है, वह है वैदिक शब्दों के अपरम्पार महत्व के संबंध की अपरिवर्तनीय धारणा। रामायण, महाभारत, स्मृति, पुराण, धर्मसूत्र, वेदान्त-सूत्र आदि साहित्यों के संबंध में ऐसा नहीं दिखाई देता कि उन्हें किसी ने कंठस्थ किया हो अथवा वैसा करने का आग्रह रखा तथा कंठस्थ करते समय केवल शब्द ही नहीं अपितु उनका उच्चारण भी एक विशिष्ट पद्धति से होना चाहिए, ऐसा कोई नियम बनाया हो। किंतु वैदिक साहित्य के बारे में ऋग्वेद काल से लेकर आज तक बिल्कुल निराली ही बात दृष्टिगोचर होती है। वेदों

का नाम है अनुश्रव, उनका उच्चारण सहित अध्ययन गुरु-शिष्य परम्परा से चलता आया है। गुरु का एक विशिष्ट पद्धति से कहना व शिष्य का उसी पद्धति से कंठस्थ करना, यही ढंग वेदविद्या के अध्ययन एवं संरक्षण का रहा है। यह परंपरा कितनी प्राचीन है, इसका प्रमाण प्रत्यक्ष वेदों में ही मिलता है। वेद भी इतर सृष्टि के द्वारा उत्पन्न हुए हैं तथा वे उन्हें (ब्रह्मदेव को) प्रत्यक्ष परमेश्वर से गुरुशिष्य परम्परा से प्राप्त हुए हैं, ऐसा प्रत्यक्ष वेदों में ही वर्णन है। **'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'** ऐसा वेदों में वर्णन है। परमेश्वर ने सृष्टि के आरंभ में सर्वप्रथम ब्रह्मदेव को उत्पन्न किया तथा उन्हें वेद प्रदान किये। इस उल्लेख के द्वारा वैदिक ऋषियों का यह कहने का स्पष्ट मन्तव्य दिखाई देता है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मदेव को भी गुरु-शिष्य परम्परा से ही वेदों की प्राप्ति हुई। वेद व परमेश्वर में भिन्नता न होने के कारण वेद अपने वास्तविक स्वरूप में परमेश्वर का शब्दरूप आविष्कार हैं। आस्तिक दर्शन-कारों के मतानुसार गुरुशिष्य परम्परा के बिना वे किसी के पास रह ही नहीं सकते। श्रद्धावन्तों का यह विश्वास तो ठीक ही है, वैदिक साहित्य के नास्तिक निरीक्षकों को भी वेदों को ज्यों का त्यों कंठस्थ कर रखने का वैदिकों का आग्रह आश्चर्य मुग्ध कर देता है। यह सत्य है कि जिस समाज में अन्य रीति से संस्कृति का विकास हुआ होता है उस समाज में यदि लेखनकला का अस्तित्व न हो तो साहित्य को कंठस्थ कर लेना ही एकमेव मार्ग हुआ करता है। परन्तु वैदिक साहित्य के बारे में वैसी बात नहीं है। ऋग्वेद के अनादि काल से भारतीयों को लेखनकला अवगत होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। परंतु फिर भी वैदिक साहित्य को विशिष्ट उच्चारण पद्धति सहित कंठस्थ करने का भारतीयों का आग्रह है। प्राचीन काल से लेकर गत पीढ़ी तक इतर अनेक ग्रंथों की हस्त-लिखित प्रतियाँ भले ही बनती रही हों, परंतु वेदाक्षर लिखना भारतीयों की जान पर आता था। यूरोपियन पंडितों ने भी यह लिख रखा है कि लेखनकला का ज्ञान होने पर भी वेद लिखने की अपेक्षा उन्हें कंठस्थ करने की ओर ही भारतीयों की वास्तविक प्रवृत्ति है। अन्य अनेक साहित्य वैदिकों ने लेखन-कला, ताम्रपत्र, शिलालेख, भूर्जपत्र एवं ऐसे ही अन्यान्य साधनों के द्वारा जीवित रखे। परन्तु वेद साहित्य को अबाधित रूप से जीवित रखने के लिए उन्होंने जिस युक्ति का अवलंबन किया वह सचमुच में स्तिमित करने वाली है। प्रो० बेन के अनुसार इसका कारण है भारतीय दृष्टि में वेदवाणी का केवल अर्थवती ही न होकर सामर्थ्यवती भी होने का जीवमान प्रत्यय। जिन शब्दों में जीवमान सामर्थ्य ओतप्रोत भरा हुआ है उनकी चैतन्यमय परम्परा मिट्टी, पत्थर, पत्ते भला क्या टिका पायेंगे? इस कारण उच्चारणसहित वह परम्परा जीवित रखने के लिए उन्होंने तप के द्वारा पवित्र किये हुए सजीव मनुष्यप्राणी की योजना की। वेदों का एक अक्षर भी इधर का उधर न हो,

इसलिए उन्होंने वेदाक्षरों की संपूर्ण गणना कर उसे एक सुदृढ़ साँचे में बैठाला। इसी साँचे को 'व्यूह' या 'विकृति' कहते हैं। व्यूह बतलाने वाले ग्रंथ को 'चरण-व्यूह' कहते हैं। उसे शौनक ऋषि ने रचा तथा उसका काल ईसा पूर्व १२०० वर्षों का माना जाता है। विकृति दर्शाने वाला ग्रंथ 'विकृतवल्ली' के नाम से प्रसिद्ध है तथा उसका कर्ता व्याडी ऋषि है। उसका काल भी ईसा पूर्व १२०० वर्षों का माना जाता है। चरण याने आन्दोलन व चरणव्यूह याने आन्दोलन की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ। वेदरक्षण के ये दो अतिशय महत्व के प्रयत्न हैं। इस साहित्य को इस प्रकार जीवित रखने के लिए उसे किसी विशिष्ट साँचे में बैठाने के अति-रिक्त दूसरा उपाय नहीं। इस प्रकार का व्यूह जिसने तैयार किया वह कात्या-यन यदि याज्ञवल्क्य का पुत्र था तो इसका काल ईसा पूर्व २४०० वर्षों का सिद्ध होता है, ऐसा श्री अप्रबुद्ध ने प्रतिपादित किया है। वेदरक्षण के लिए भारतीयों ने जो प्रयत्न किये उनमें मंडल, सूक्त, अष्टक, वर्ग, अनुवाक, खंड, कांड, प्रश्न, छंद, आदि भिन्न भिन्न रीति से उनका विभाजन कर उनमें के गद्यभाग की पचास अक्षरों के परिमाण से अक्षरसंख्या भी गिनकर रखी। मंत्रों का कर्म में विनियोग होने के कारण उनके द्वारा वेदों की रक्षा में तो सहायता हुई ही परन्तु वेदों का प्रत्येक अक्षर निश्चित पद्धति से ही उच्चारित किया जाय, इस हेतु से वेदों का पठन करते समय कुछ विशेष पद्धति से पदों को तोड़-कर उन्हें सादे क्रम से अथवा उन उन अक्षरों को ही पुनः पुनः आगे पीछे लेकर वेदों का अध्ययन करने की विशिष्ट परम्परा उत्पन्न की गई। जिस प्रकार चारों ओर कीलें ठोककर कोई एक वस्तु पक्की बना दी जातो है उसी प्रकार इस पद्धति की भी व्यवस्था की गई। ऐसी व्यवस्था बनाई जाने के कारण ही अनादि काल से वे शब्दोच्चार आज भी ज्यों के त्यों सुनने को मिलते हैं। वेदपठन की इस विशिष्ट पद्धति को विकृति कहते हैं। ये विकृतियाँ कुल आठ हैं :—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः॥

"वेदों का क्रमिक अध्ययन तथा जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दंड, रथ व घन—इन संपूर्ण विकृतियों सहित वेदाध्ययन करने वाला व्यक्ति घनान्त वैदिक समझा जाता है।" यह अध्ययन इतना विशाल है कि उसे पूर्ण करने तथा टिकाये रखने के लिए संपूर्ण जीवन ही लगा देना पड़ता है। अन्य किसी भी प्रकार का व्यवसाय न कर सारा जन्म घोर दारिद्रय में व्यतीत करते हुए, केवल वेदों को टिकाये रखने के निमित्त ही, उक्त पद्धति से अध्ययन करने में अपना संपूर्ण जीवन लगा देने वाला एक वर्ग का वर्ग भारतीय संस्कृति ने निर्माण किया है तथा उसे अखंड रखते हुए उसे ज्येष्ठता का सारा मान दिया है। इस बात पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीयों

को उच्चारण-शास्त्र सहित वेदों का संरक्षण करने का कितना विलक्षण महत्व प्रतीत होता रहा है। इतने प्रयत्नों से वेदों का संरक्षण होने के कारण ही भयंकर अत्याचारों के काल में भी वेद जीवित रहे। सहस्त्रावधि लोग मारे गये, किंतु जो कोई भी इस संहार से बच गया उसी ने पुनः नई परम्परा उत्पन्न कर वेद संरक्षण का कार्य आगे चलाया। वेद वास्तव में महाभारत सरीखे सुसंबद्ध ग्रंथ नहीं हैं। इनमें भी ऋग्वेद का स्वरूप तो इतना अव्यवस्थित है कि एक सूक्त के दूसरे सूक्त से संबंध की बात तो दूर रही, एक ऋचा का भी दूसरी ऋचा से कोई विशेष संबंध होगा, ऐसा नहीं कहा सकता। ऐसी स्थिति में, निष्कर्ष यही निकलता है कि इन शब्दों का ही कोई विशेष स्वयंभू महत्व होगा, व उस महत्व का महाबुद्धिशाली वैदिकों के मन पर पूर्ण प्रभाव होने के कारण ही उन्होंने उनके रक्षण का, अर्थात् उन शब्दों के रक्षण का (आजकल की भाषा के अनुसार उनमें निहित ज्ञान के ही रक्षण का नहीं) इतना प्रचंड प्रयास किया।

'वेद' कहते ही उपरिलिखित इस प्रथम बात के साथ साथ जो दूसरी बात सामने आती है वह यह है कि वेदों की भाषा एक विशेष प्रकार की स्वरयुक्त भाषा है। इस त्रेसठ या चौंसठ वर्णों की भाषा को न बोल सकने वालों के लिए वैदिक लोग असुर, सुरदेव आदि हीनतादर्शक शब्दों का प्रयोग किया करते थे, इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। वह भाषा इतनी घुटी हुई व संस्कार युक्त है कि उसमें किसी अन्य के वर्णों का मिश्रण हुआ होगा यह कल्पना करना ही हास्यास्पद है। एक पाश्चात्य अन्वेषक का यह कथन कितना सत्य है कि अभिमानी ब्राह्मण जाति ने किसी से कुछ भी उधार नहीं लिया। ऋग्वेद में 'ळ' वर्ण आता है। अनेकों की कल्पना है कि यह वर्ण द्रविड़ों से लिया गया है तथा मराठी के 'ळ' के समान ही वह एक स्वतंत्र व्यंजन है। परन्तु ऋग्वेद का सूक्ष्म अध्ययन करने से पता चलता है कि 'ळ' स्वतंत्र व्यंजन नहीं है; बल्कि परिणत उच्चारशास्त्र के नियमानुसार, उच्चारण के तुल्य प्रयत्न के कारण 'ड' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जिनकी भाषा में परिणति है उनकी भाषा की स्वर-प्रक्रिया भी अत्यंत सूक्ष्म व विचारणीय है, इसमें संदेह नहीं। वास्तविक रीति से शब्दों का स्वरयुक्त होना तथा विशिष्ट पद्धति से जोर देकर शब्दों का उच्चारण करने पर भिन्न अर्थों की प्रतीति होना प्राचीन ग्रीक, लेटिन आदि भाषाओं से लेकर अर्वाचीन अँग्रेजी, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं तक सर्वत्र दिखलाई देता है। परन्तु इन भाषाओं के समान केवल ध्वनि व्यक्त करने वाला अस्थाई स्वरूप वैदिक भाषा के स्वरों का नहीं है। वैदिक भाषा में स्वरों के कारण शब्दों का अर्थ, समास, विभक्ति, काल व संकेत बदलते हैं। यह उन स्वरों की विशेषता है।

यही नहीं, स्वरों के कारण अर्थ भी बदल जाते हैं। निम्नलिखित कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है। ऋग्वेद का **'अपस्'** शब्द जब अंतोदात्त होता है तब उसका अर्थ होता है कुशल अथवा प्रवीण; परंतु यही शब्द जब आद्योदात्त होता है तब उसका अर्थ बदल जाता है और उसका नया अर्थ होता है 'कर्म'। **'पोता'** शब्द जब आद्योदात्त होता है तब उसका अर्थ होता है 'पोता नाम का ऋषि'। पर यही शब्द अंतोदात्त होता है तब उसका अर्थ हो जाता है 'पवित्र करने वाला सोम'। आद्योदात्त **'जूर्णि'** का अर्थ है 'स्तवन करने वाला', परंतु वही शब्द सादे ढंग से प्रयुक्त होने पर 'ज्वाला' अथवा 'उल्का' का अर्थ प्रगट करता है। इस संबंध में वृत्रासुर की उत्पत्ति की कथा प्रसिद्ध है। इन्द्र ने त्वष्टा के लड़के विश्वरूप को मारा। इस बात से क्रुद्ध होकर त्वष्टा ने दक्षिणाग्नि में हवन किया व उस समय **'इंद्रशत्रो विवर्धस्व'** यह मंत्र कहा। इंद्र शत्रु शब्द सामासिक है तथा उसका तत्पुरुष और बहुव्रीहि दोनों ही प्रकार से विग्रह किया जा सकता है। यहाँ 'शत्रु' शब्द का अर्थ है शातयिता याने मारनेवाला। 'इंद्रः शत्रुर्यस्य सः' इस प्रकार यदि उसे बहुव्रीहि समझा तो उसका अर्थ होता है 'जिसका मारने वाला इंद्र है वह'। और यदि 'इन्द्रस्य शत्रु' के रूप में उसे षष्ठी तत्पुरुष माना तो उसका अर्थ होता है 'इंद्र को मारने वाला'। त्वष्टा को वास्तव में इन्द्र को मारने वाला लड़का चाहिए था और इसलिए षष्ठी तत्पुरुष समास ही अपेक्षित था, परन्तु क्रोधावेश में उसने स्वर की गलती कर दी इस कारण षष्ठी तत्पुरुष के स्थान पर बहुव्रीहि समास का अर्थ लग गया और इसलिए जो वृत्रासुर उत्पन्न हुआ वह उल्टा इन्द्र के द्वारा ही मारा गया। इस कथा के द्वारा वैदिक भाषा में स्वरों का महत्व उत्कृष्ट रीति से व्यक्त होता है। स्वरों का वेदों व वेदाक्षरों पर इतना प्रभाव है कि उदात्त, अनुदात्त व स्वरित—इस त्रयी से वेदमंत्र मुक्त रह ही नहीं सकता। मंत्रों के उच्चारण के स्वतन्त्र शास्त्र के नाते शिक्षा नामक वेदांग की उत्पत्ति हुई है। वेदाक्षरों के बारे में शिक्षा में यह नियम ही बना दिया गया है कि—

मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

"स्वर अथवा वर्णविहीन मंत्र खोटा है तथा वह उसके खरे अर्थ का व्यक्तीकरण नहीं करता। यही नहीं, ऐसे अशुद्ध मंत्र की वाणी वज्र बनकर यजमान को ही मार डालती है। स्वर चूकने के कारण इंद्रशत्रु शब्द का जो हुआ, वह उक्त कथन का उत्तम निदर्शक है।"

तीसरी महत्व की बात जो दृष्टिगोचर होती है वह है वैदिकों का इस बात का आग्रह कि वेदों में जो शब्द जिस क्रम से आये हों, वे शब्द उसी क्रम से उच्चारित होने चाहिए **(नियतानुपूर्व्या नियतवाचो युक्तयो भवन्ति)**।

'अग्निमीले पुरोहितम्' वाक्य में एक ही शब्द का फेरबदल कर **'ईले अग्निं पुरोहितम्'** कहने से वह वेदवाक्य नहीं रहेगा। वास्तव में भाषा अर्थानुसार होती है। इस कारण योग्य अर्थ के अनुसंधान के लिए ही शब्द का महत्व रहता है। परन्तु जहाँ तक वेद का प्रश्न है वहां अर्थ को महत्व नहीं, वहाँ तो शब्दों को ही वास्तविक महत्व है। "एक के बाद एक शब्दों का आना 'आनुपूर्वी' कहलाता है। इस आनुपूर्वी तथा उन विशिष्ट शब्दों का ही वेदों में महत्व है। **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** इन शब्दों का उच्चारण करने से ही गायत्री मंत्र बनेगा। श्री समर्थ का वाक्प्रयोग **'बुद्धि दे रघुनायका'** गायत्री मंत्र का ही अर्थ प्रगट करता है, परंतु वह गायत्री मंत्र नहीं हो सकता।

चौथी महत्व की बात है, वैदिकों का इस बात का विशेष आग्रह कि विशिष्ट शरीरों को ही वैदिक मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए। इसमें अन्यों को ज्ञान से वंचित रखने का कोई हेतु नहीं था। उल्टे, वैदिक ऋषियों को तो समस्त जनों को बुद्धिमान बना देने की इतनी उत्कंठा एवं तड़पन थी कि उन्होंने ब्रह्मविद्या सरीखी विद्या तथा इतर संपूर्ण ज्ञान भंडार का समस्त लोगों को सरल से सरल रीति से हस्तगत करा देने के निमित्त महाभारत सरीखे प्रचंड ग्रंथ व समुद्र सरीखे विस्तीर्ण साहित्य का निर्माण किया। परंतु शरीर को नादयंत्र समझकर उच्चारणशास्त्र के साथ उसका संबंध माना हुआ होने के कारण वेदमंत्रों के उच्चारण के संबंध में मात्र विशिष्ट शरीर व नियमों का बंधन रखा गया था। सत्तासंपत्ति से दूर तीव्र वैराग्य की मरुभूमि में जन्मभर रहने की सिद्धता रखने वाले को ही इस उच्चारण का अधिकार दिया गया है।

उपरिलिखित स्थूल स्वरूप की बातें वेदसाहित्यमंदिर के द्वार पर खड़े होते ही दृष्टिगोचर होती हैं। जन्म के जन्म समर्पित कर केवल मात्र स्वर, शब्द व वाक्यों को ज्यों का त्यों बनाये रखने के लिए, किसी भी प्रकार के बदले की अपेक्षा न रखते हुए अत्यंत उत्साह के साथ भोगसुखविहीन निष्कांचन जीवन का अंगीकार करने के लिए उद्यत होना, मानव जाति के इतिहास में सचमुच ही अपूर्व है। भोले, अंधश्रद्धालु आदि शब्दों से जो उनका उपहास करते हैं, वे वैचारिक क्षेत्र में स्वतः की अपात्रता सिद्ध कर अपनी असहिष्णु वृत्ति का ही परिचय देते हैं। अपनी सूक्ष्म तर्कशक्ति से बाल की खाल निकालते हुए जगत्कारण के संबंध में मतभिन्नता प्रगट करने वाले परमबुद्धिशाली भारतीय दार्शनिकों का भी वेदसंहिता के इस विशिष्ट महत्व के बारे में मतभेद नहीं दिखाई देता, यह निस्संदिग्धरूप से एक विचारार्ह बात है। और एक आश्चर्यजनक बात, जो स्थूलदृष्टि से देखने पर ही दिखाई देती है, वह याने वेदसाहित्य शब्द राशि होने पर भी उसके रूप रंग आदि का वर्णन

किया गया है। उदाहरणार्थ 'चरणव्यूह' सरीखे ग्रंथ में ऋग्वेद का निम्नानुसार वर्णन है :—

मूलम् :—य इमे चत्वारस्तेषां एकैकस्य कीदृशं रूपं वर्णविधोच्यते। ऋग्वेदः पद्मपत्राक्षः सुविभक्तग्रीवः कुञ्चितकेशश्मश्रुः श्वेतवर्णो वर्णेन कीर्तितं प्रमाणं तावत्तिष्ठान्वितस्तीः पञ्च यजुर्वेदः पिंगाक्षः कृशमध्यस्थूलगलकपोलस्ताम्रवर्णः कृष्णवर्णो वा प्रादेशमात्रः षड्दीर्घत्वेन; सामवेदो नित्यं स्रग्वी सुप्रयतः शुचिवासः शमी दान्तो बृहच्छरीरः शमी दण्डी कातरनयन आदित्यवर्णो वर्णेन नवारालीमात्रः; अथर्ववेदस्तीक्ष्णः प्रचण्डः कामरूपी विश्वकर्त्ता क्षुद्रकर्मा स्वशाखाध्यायी प्राज्ञश्च महानीलोत्पलवर्णो वर्णेन दशारालीमात्रः।

भाष्यम् :—अथ वेदानां गोत्रदेवता छंदांस्याह। ऋग्वेदस्य आत्रेय सगोत्रम्। आत्रेयाः सगोत्राः समानगोत्रा यस्य तत्। अत्रिगोत्र ऋग्वेद इत्यर्थः। सोमदैवत्यं सोमः देवता यस्य तत्। गायत्री छंदो यस्य तत्। एवं अग्रेऽपि व्याख्यातव्यम्। अथ यजुर्वेदस्य काश्यपगोत्रं इंद्रदैवत्यं त्रिष्टुप्छन्दः। अथ सामवेदस्य भारद्वाजः सगोत्रं रुद्र दैवत्यं जगती छंदः। अथर्ववेदस्य वैतानसगोत्रं ब्रह्मदैवत्यं अनुष्टुप् छंदः।

मूलम् :—य इदं वेदानां नामरूपगोत्रप्रमाणच्छंदो दैवतवर्णं वर्णयति। अविद्यो लभते विद्यां जातिस्मरोऽथ जायते जन्मजन्म वेदपारगो भवत्यव्रती व्रती भवत्यब्रह्मचारी ब्रह्मचारी भवति।

अर्थात् "कमल सरीखे नेत्र, तीन रेखायुक्त गर्दन, घुंघराले बाल व मूछें, शुभ्रवर्ण व अढ़ाई हाथ का देह—इन शब्दों में ऋग्वेद के स्वरूप का वर्णन किया गया है। यजुर्वेद के स्वरूप का वर्णन है— भूरे नेत्र, कृश मध्यभाग, भरदार गला, गोलगोल गाल, अढ़ाई हाथ का शरीर तथा वर्ण कृष्ण व रक्त दोनों (कृष्णयजुर्वेद व शुक्ल यजुर्वेद के कारण)। नित्य पुष्पमालाधारी, यमनियम का आचरण करनेवाला, शुद्ध वस्त्र परिधान करनेवाला, शांतमन वाला बाह्येन्द्रियों का पूर्ण निग्रह किया हुआ, शमीवृक्ष का दंड हाथ में धारण करनेवाला, शरीर से स्थूल, सुवर्ण के समान तेजस्वी नेत्रों से युक्त, सूर्य के समान कान्तिमान्, साढ़े चार हाथ के शरीर वाला व शुभ्रवर्णयुक्त सामवेद का स्वरूप है। उग्र, क्रोधी, इच्छानुसार रूप धारण करने वाला, विश्व की उत्पत्ति कर उसका जीवन चलाने वाला, चाहे जैसे हल्के काम करने वाला, स्वशाखा का अध्ययन करने वाला, महाबुद्धिशाली, नीलकमल के समान सुंदर, श्यामवर्ण युक्त, पाँच हाथ की देह रखने वाला अथर्ववेद है। ऋग्वेद का गोत्र है अत्रि, देवता सोम व छंद है गायत्री। यजुर्वेद का है काश्यप गोत्र, इंद्र देवता, त्रिष्टुप् छंद। सामवेद का भारद्वाज गोत्र, रुद्र देवता व जगती छंद तथा अथर्ववेद का है वैतानस गोत्र, ब्रह्मा देवता व अनुष्टुप् छंद। वेदों के ऋग्वेदादि नाम, कमल

नेत्र आदि स्वरूप, आत्रेयादि गोत्र, पांच हाथ आदि प्रमाण, गायत्री आदि छंद, सोमादि देवता, श्वेतादि वर्ण का जो पुरुष वर्णन करता है अर्थात् उन्हें जानता है, वह यदि विद्याहीन भी हो तो भी उसे विद्यालाभ होता है। दूसरे जन्म में उत्तम जन्म प्राप्त होता है तथा उसे पूर्वजन्म का स्मरण रहता है। प्रत्येक जन्म में वह वेद पारंगत होता है। व्रताचरण न करते हुए भी व्रतों का फल प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य धारण न करते हुए भी ब्रह्मचर्यत्व का फल प्राप्त करता है।"

यह सारा वर्णन मंत्रशास्त्र से संबद्ध होने के कारण तथा उसका संबंध प्रत्यक्ष फल से जोड़ा हुआ होने के कारण उसे केवल ढोंग कहकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

वैदिक साहित्य मंदिर के द्वार पर कदम रखते ही उसकी ये जो विशेषताएँ ध्यान में आती हैं, उन्हें देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आजकल **'विद्—ज्ञाने'** इस एक ही उपपत्ति के आधार पर वेदों को प्राचीन ज्ञान की पुस्तक मात्र समझना योग्य नहीं है। वैदिकों की धारणानुसार उनमें कुछ भिन्न प्रकार का सामर्थ्य भी संचित होना चाहिए। वेदों के शब्दों में उस प्रकार का विशेष सामर्थ्य है, यह विश्वास प्रत्यक्ष वेदों में ही व्यक्त किया गया है। इस सामर्थ्य को न पहचान कर तथा अपने जीवन कल्याण के लिए उसका प्रत्यक्ष उपयोग न कर जो केवल रटता ही रहता है वह **'किं ऋचा करिष्यति'** (केवल ऋचा को लेकर क्या करेगा), ऐसा प्रश्न प्रत्यक्ष ऋग्वेद ने ही पूछा है। 'विद्' धातु केवल ज्ञानार्थक ही नहीं है प्रत्युत उसमें कुछ न कुछ प्राप्त करने अथवा संपादन करने का अर्थ भी समाविष्ट है। भारतीयों की धारणा है कि वेद याने प्रत्यक्ष जीवन पर परिणाम करने वाले शब्द समूह। इतर सब ज्ञानमय ग्रंथों की अपेक्षा भारतवर्ष में वेदों को भिन्न प्रकार का महत्व है, यह सिद्ध करने के लिए कुछ स्थूल बातों का पहले उल्लेख किया है। वेदों के इस विशेष महत्व का वास्तविक कारण प्रत्यक्ष ऋग्वेद से लेकर कल तक के महर्षि अण्णा साहेब पटवर्धन व आज के अरविंद घोष के काल तक की इस दृढ़ धारणा में निहित है कि वेद केवल साहित्य मात्र न होकर मंत्र हैं, याने वे सिद्ध वाणी हैं तथा उनमें प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार के परिणाम उत्पन्न करने का सामर्थ्य संचित है।

मंत्र का अर्थ है विशिष्ट प्रकार का प्रत्यक्ष परिणाम उत्पन्न करनेवाला शब्दसमूह। इस प्रकार के शब्द समूह में अर्थ का वास्तविक महत्व न होकर उन विशिष्ट शब्दों का, उनके उच्चारण के विशिष्ट प्रकार का तथा उन शब्दों की विशिष्ट आनुपूर्वी, अर्थात् उनके क्रम से एक के बाद एक आने का ही वास्तविक महत्व रहता है। इस मंत्रविषयक धारणा के मूल में यह विश्वास

निहित है कि शब्दों में उत्पादक शक्ति विद्यमान रहती है। यह धारणा केवल वेदों में या वैदिक संस्कृति से ही उत्पन्न जरथुस्त्री अथवा पारसी धर्मग्रंथ में ही प्राप्त नहीं होती, अपितु उन वनवासी लोगों के धर्म में भी दिखाई देती है जिन्हें हम वृक्षपाषाणादि की पूजा करनेवाले संस्कृतिहीन लोग समझते हैं। उनके धर्म में भी मंत्रशास्त्र के ऊपर विश्वास तथा विशिष्ट शब्दों में विशिष्ट प्रकार का सामर्थ्य रहता है, ऐसी दृढ़ श्रद्धा दृष्टिगोचर होती है। और तो और, इस पृथ्वीतल पर जहाँ कहीं भी उन्नत अथवा अनुन्नत धर्म विद्यमान हैं, वहीं पर हम इस प्रकार का विश्वास लोगों में भरा पाते हैं। जड़वाद के दंभ से युक्त मुट्ठी भर बुद्धिवादियों की बात छोड़ दीजिए। इन तथाकथित बुद्धिवादियों का किसी प्रकार का धर्म न होने के कारण उनका यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं। आगे हम देखेंगे कि आधुनिक शास्त्रों को भी शब्दों का यह विशिष्ट सामर्थ्य मान्य करना अपरिहार्य होने के कारण इन बुद्धिवादियों को भी यह सिद्धान्त मानना अनिवार्य हो गया है।

धर्म का हम दो प्रकार से वर्गीकरण कर सकते हैं—एक साधना-प्रधान व दूसरा प्रार्थना-प्रधान। इनमें से प्रार्थना-प्रधान धर्म में मंत्रविद्या का अधिक संबंध न होने पर भी यह जो विश्वास है कि विशिष्ट प्रकार के स्तोत्रों से प्रार्थना करने पर उसका फल जल्दी प्राप्त हो जाता है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस धर्म में भी पर्याय से शब्दसामर्थ्य को मान्यता दी गई है। साधना-प्रधान धर्म के संबंध में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। प्रत्येक साधना-प्रधान धर्म में कुछ ऐसे नाम गिनाये हुए रहते हैं, जिनके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि वे ईश्वर को विशेष रूप से प्रिय हैं तथा उनका पुनः पुनः उच्चारण अर्थात् जप करने से ईश्वरी शक्ति शीघ्र प्रसन्न होती है। आजकल के समस्त साधना प्रधान धर्मों में तो यह बात है ही, परन्तु प्राचीन धर्मों में भी यह बात दिखाई देती है। ईसाईयों व मुसलमानों के प्रार्थना प्रधान धर्मों में इस प्रकार के नामजप का विशेष महत्व है। कुरान में खास जप के लिए ईश्वर को प्रिय लगने वाले कुछ विशेष नाम गिनाये गये हैं तथा अनेक इस्लामी उपसंप्रदायों में उनके द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधनाओं का निर्देश किया गया है। अनेक कर्मठ मुसलमान इन जप साधनाओं को करते हैं, यह प्रसिद्ध ही है। प्रायः प्रत्येक मुसलमान बादशाह इस प्रकार जप किया करता था। उनके जप की रत्नमालाएँ प्रसिद्ध हैं। ईसाई धर्म में, विशेषतः कैथोलिक पंथ में बड़े बड़े संत हुए जिनकी जपमालाएँ प्रसिद्ध हैं। "In the beginning was the word, and the word was with the God, and word was God, जॉन का यह प्रसिद्ध वाक्य ईसाईयों की मंत्र विद्या का मूल है। भारतवर्ष में वैदिक धर्म की निंदा करने वाले जैन व बौद्ध संप्रदायों में भी नियमित जप का बड़ा आग्रह रहता है तथा यह सिद्धि प्राप्त करने का

महत्वपूर्ण साधन माना जाता है। 'मामी पामी हूँ' (मणि पद्मे हूँ) यह बौद्धों की गायत्री है। यहूदी, मिस्री व खालडी लोगों में भी पद्धतियुक्त मंत्रजप का प्रचार था। ग्रीक व रोमन लोगों में भी शब्दों के विशेष सामर्थ्य की कल्पना विद्यमान थी। कई जानकर लोगों का यह कहना है कि ग्रीक भाषा का 'Logas' शब्द मंत्रविद्यावाचक है तथा वह वैदिक शब्द 'ऋक्' का अपभ्रंश है। इस शब्द का अर्थ है सृष्टि उत्पन्न करने के पूर्व ईश्वर के मन में रहा हुआ तद्विषयक शब्द। सारांश यह कि ऐसा एक भी धर्म नहीं जिसका शब्द-सामर्थ्य के ऊपर विश्वास न हो। अतः यदि वैदिक धर्म में यह सिद्धान्त विद्यमान है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। परन्तु इससे यदि हम यह समझ लें कि शब्द सामर्थ्य के संबंध में अन्य धर्म के लोगों की तथा वैदिकों की धारणा एक ही थी तो यह पूर्णतया अयुक्त होगा।

इतर धर्मीय लोग शब्द के सामर्थ्य को उस शब्द का स्वयंभू सामर्थ्य नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार यह सामर्थ्य या तो ईश्वर के कृपाप्रसाद से उन शब्दों में उत्पन्न होता है अथवा बारम्बार जपादि साधनों के द्वारा जब चित्त एकाग्र हो जाता है, उस समय उस एकाग्रता में से शब्दों द्वारा चित्त का सामर्थ्य ही प्रगट होता है। जो लोग ईश्वर के प्रिय होते हैं वे ईश्वर की कृपा से स्वतः सामर्थ्य संपन्न होने के कारण अपना वह सामर्थ्य शब्दों में भी भर सकते हैं। भारतीयों में यह मान्यता है कि ईश्वर, संत, अथवा चित्त की एकाग्रता के कारण शब्दों में सामर्थ्य उत्पन्न होता है; परन्तु इस विशिष्ट पार्श्वभूमि के द्वारा जिन शब्दों में सामर्थ्य उत्पन्न होता है वे वरद मंत्र कह-लाते हैं। जैसे, 'श्री राम जय राम जय जय राम' एक वरदमंत्र है। जीवन के अंत समय में लोक कल्याण की लालसा से श्री समर्थ रामदास ने श्री राम चंद्र जी से ऐसा वर माँगा कि बिना किसी प्रकार की विशेष शुद्धि के अथवा यमनियम पाले भी यदि कोई इस मंत्र का तेरह कोटि बार जप कर ले तो उस संख्या के पूर्ण होते ही उसे आपका दर्शन होना चाहिए। श्री रामचंद्र जी ने श्री समर्थ के ऊपर प्रेम होने के कारण यह बात मान्य कर ली थी। और यह स्पष्ट है कि जब तक इन शब्दों के पीछे समर्थ रामदास जी का सामर्थ्य खड़ा है तब तक साधक को यह फल अवश्य मिलेगा। श्रीमद् भागवत, श्री ज्ञानेश्वरी व श्री गुरुचरित्र आदि ग्रंथों में भी ऐसा ही सामर्थ्य निहित होने के कारण वे ग्रंथ मंत्रमय समझे जाते हैं। जब तक इन ग्रंथों के पीछे श्री शुकाचार्य श्री ज्ञानेश्वर महाराज अथवा श्री नृसिंह सरस्वती का सामर्थ्य खड़ा है तब तक इन ग्रंथों की मंत्रमयता में कोई बाधा नहीं आ सकती। परंतु वरदमंत्रों के द्वारा वैदिक मंत्रशास्त्र की धारणा व्यक्त नहीं हो सकती। वरदमंत्र भारतीय मंत्रशास्त्र का केवल एक भाग है। भारतीयों की वेदों के संबंध में इससे भिन्न

धारणा है। और वह धारणा यह है कि वेदमंत्र वरदमंत्र नहीं, वरन् स्वयंभू मंत्र हैं। अर्थात् उनमें चित्त की एकाग्रता, ईश्वर की प्रसन्नता या महापुरुषों के तपः सामर्थ्य की पार्श्व भूमि के कारण सामर्थ्य उत्पन्न नहीं हुआ है अपितु वह उनका स्वयं का सामर्थ्य है, तथा उन शब्दों का योग्य पद्धति से उच्चारण करने पर सिद्धि अवश्य ही प्राप्त होगी; फिर चाहे ईश्वर प्रसन्न हो अथवा अप्रसन्न, महापुरुष विरुद्ध हों या अनुकूल अथवा चित्त एकाग्र हो या चंचल। पुराणसाहित्य में हिरण्यकश्यपु व रावण को वरदान के द्वारा प्राप्त सामर्थ्य की उपपत्ति का बीज इसी धारणा में निहित है। ईश्वर के उन पर अप्रसन्न होते हुए भी मंत्र के सामर्थ्य के कारण उनको उनके पास जाना ही पड़ता था तथा उनकी ईप्सा पूरी करनी पड़ती थी। अंगार पर पैर पड़ने पर, इच्छा हो या न हो, अग्नि की दाहकशक्ति अपना काम करेगी ही। ठीक वही बात इन शब्दों के बारे में भी है। शब्दों के स्वयंभू सामर्थ्य की इस वैदिक धारणा को भागवतधर्मीयों ने अपने नारायणीय अथवा भागवत धर्म के उपास्य देवता नारायण के साथ जोड़कर स्वतः की श्रेष्ठता प्रस्थापित की है। श्रीमद् भागवत के छठवें स्कंध के प्रारंभ में अजामिलोपाख्यान के सहारे यह बात प्रतिपादित की गई है। अजामिल नाम का एक पापी गृहस्थ जब अंतकाल के निकट आने पर घबरा गया और अपने प्रेम के सर्वश्रेष्ठ स्थान नारायण नामक अपने पुत्र को बुलाने लगा तब तुरंत ही विष्णुदूतों ने आकर यमदूतों द्वारा उसके चारों ओर डाले गये यमपाश से उसकी मुक्ति की। आगे यमदूतों और विष्णुदूतों में जो संवाद हुआ उसमें यमदूतों ने बहुत कहा कि "यह महापापी है तथा नारायण नाम का उच्चारण करने में इसकी परमेश्वर विषयक कोई धारणा नहीं थी; उसने तो केवल अपने लड़के को आवाज दी थी, बिना कारण यदि इस प्रकार के पापी छूटने लगे तो कैसे काम चलेगा" आदि आदि। परन्तु विष्णुदूतों ने केवल एक ही उत्तर दिया—**'पतितः स्खलितः चार्तः स्मृत्वा वा विवशो ब्रुवन्। वैकुण्ठनामग्रहणं अशेषाघ हरं विदुः।'** किसी भी परिस्थिति में तथा किसी भी निमित्त से परमेश्वर का नामोच्चारण करने पर उद्धार होना ही चाहिए। शब्दों में निहित स्वयंभू सामर्थ्य की मान्यता ही यहाँ दूसरे प्रकार से व्यक्त की गई है। शब्द सामर्थ्य संबंधी यह वैदिक धारणा आज की नहीं है प्रत्युत प्रत्यक्ष ऋग्वेद में ही उसका उल्लेख हुआ है—

'स वाग् ऋग्भ्यो अजायत तस्मात् ऋचो अजायन्त, ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः, यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति य इत् तत् विदुः त इमे समासते। प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मंत्रं वदति उक्थं यस्मिन् इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे।'

(यह जड़ विश्व ही नहीं अपितु उसे चलाने वाली तथा उसके लिए कारणीभूत होने वाली दिव्य शक्तियाँ भी ऋचा में वास करती हैं। ये जगत्कारणभूत

शब्द समुच्चय परमेश्वर ने उत्पन्न किये हैं तथा उनमें विश्वविधारक शक्ति भरी है। ये शक्तियाँ वहाँ कैसे निवास करती हैं इसे जो समझेगा वही उनको प्रगट भी कर सकेगा। जिसे इस गूढ़ का आकलन नहीं हो सकता वह केवल ऋचा लेकर क्या करेगा ?)

उपर्युक्त वाक्य प्रत्यक्ष ऋग्वेद में कहा गया है। ऋग्वेद में वाणी के चार भेद बताये गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें से केवल वैखरी ही सब लोगों के बोलने में प्रगट होती है तथा बाकी तीन प्रकारों के बारे में स्पष्ट कहा गया है कि वे गुप्त व सामर्थ्यवती वाणियाँ होने के कारण केवल वेदविद्या का रहस्य जानने वाले श्रेष्ठ सामर्थ्यवन्तों को ही ज्ञात होती हैं। अस्यवामस्य सूक्त में सूक्तकार कहते हैं—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

(ऋ० १-१६४-४५)

ऋग्वेद की यही धारणा मांडूक्य सरीखे ब्राह्मण ग्रंथ में भी **'त्रयमिदं नामरूपं व कर्म तेषां नाम्नां वागेव उक्थम्'** इन शब्दो में व्यक्त हुई है।

शब्द का अर्थ से तीन प्रकार का अर्थात् वाचक, लाक्षणिक व व्यंजक संबंध संस्कृत व अन्य भाषाओं में भी बताया जाता है। परन्तु ये सारे संबंध एक प्रकार से सांकेतिक हैं। उनकी कोई भी शास्त्रीय उपपत्ति नहीं। शब्द का अर्थ से और भी एक प्रकार का संबंध रहता है जिसे स्वयंभू अथवा औत्पत्तिक संबंध कहते हैं। **"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन संबंधः"** यह पूर्वमीमांसा शास्त्र का कथन है। पदार्थ शब्द का विचार करने से यह बात ध्यान में आ जाएगी। पद याने शब्द का, अर्थ याने वस्तु। शब्द का उच्चार होते ही वस्तु प्रगट होनी चाहिए व वातावरण के ऊपर उसका पूर्ण परिणाम केवल उच्चारण-मात्र से उत्पन्न करते आना चाहिए। शब्द का वस्तु से स्वयंभू अथवा औत्पत्तिक स्वरूप का नाता माना जा सकता है। वैदिक शब्दों में इस प्रकार की स्वयंभू उत्पादन शक्ति विद्यमान है। ये शब्द किसी पुरुष ने निर्माण नहीं किये अपितु वैदिक लोगों की धारणानुसार उनसे ही सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति हुई। समस्त आस्तिक दर्शनकार इस संबंध में एकमत हैं। वैदिक लोग जब वेदों को पौरु-षेय कहते हैं तब उसका वास्तविक अर्थ यह होता है कि वेदों को पुरुष अथवा ईश्वर ने बनाया। और जब वे कहते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं तब उसका अर्थ यह होता है कि वेद स्वतः ईश्वर होने के कारण ईश्वर ने ईश्वर का निर्माण किया यह कहना कोई सार नहीं रखता, इस कारण उन्हें पौरुषेय कहने की कोई आवश्यकता नहीं। इस धारणा के कारण ही प्राचीन काल में वेदों का अर्थ किया जाए या नहीं, इस संबंध में बड़ा विवाद उपस्थित हुआ था। उसका

प्रतिबिंब आज भी यास्क के निरुक्त ग्रंथ में देखने को मिलता है। एक पक्ष का अध्वर्यु था कौत्स तथा दूसरे का स्वतः यास्क। यह कौत्स कालिदास के रघुवंश में वर्णित वरतंतु का शिष्य था या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु निरुक्त के आधार पर कौत्स का कथन इस प्रकार का दिखाई देता है कि **'अनर्थका हि मंत्राः नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति'** अर्थात् "मंत्र निश्चित शब्दों के, निश्चित पद्धति से उच्चारित होने वाले तथा निश्चित आनुपूर्वी वाले होने के कारण उनके उच्चारण का ही महत्व है; उनका अर्थ नहीं किया जा सकता।" इसके विपरीत यास्क का मत है कि धर्म व वेद के ज्ञान के लिए वेदमंत्रों का अर्थ अवश्य ही किया जाना चाहिए। परन्तु यास्क के इस उद्गार से कि **"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्"** अर्थात् "जो वेदों का अध्ययन करता है किन्तु उसका अर्थ नहीं जानता वह केवल भारवाहक है"। यदि कोई यह अर्थ निकाले कि यास्क आजकल के लोगों के समान केवल अर्थ को ही सारसर्वस्व समझने वाले व्यक्ति थे तो यह उसकी बड़ी भूल होगी। यास्क को वेदों की अपौरुषेयता व उनका दिव्य सामर्थ्य पूर्णरूप से मान्य है। उनका कहना केवल इतना ही है कि वेदों का अर्थ करने से उनके इस सामर्थ्य को व उनकी अपौरुषेयता को किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती।

वेदों की यह अपौरुषेयता, उनकी प्रत्यक्ष ईश्वर से हुई निर्मिति व उनकी ओर सौंपा गया विश्व का उत्पादकत्व—इन बातों को सुनकर आज का मनुष्य हँसने लगता है। एक बार तो किर्लोस्कर में एक मजेदार प्रश्न भी पूछा गया कि 'वेदों को परमेश्वर ने क्या टाइपराइटर से टाइप किया था ?' परन्तु वेदों से लेकर श्रीशंकराचार्य तक तथा उसके पश्चात् महर्षि अण्णासाहेब पटवर्धन के काल तक वेदों के अपौरुषेयत्व का उपर्युक्त विश्वास दृष्टिगोचर होता है। **'तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे,' 'अरे अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतत्'** इत्यादि वेद व उपनिषदों के वाक्यों द्वारा यह धारणा व्यक्त की गई है तथा कहा गया है : **'अनन्ता वै वेदाः'**। तैतिरीय ब्राह्मण में कहा गया है : **'तं ह त्रीन्गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयांचकार। तेषां हैकैकस्मान् मुष्टिमाददे स होवाच भरद्वाजेत्याऽमंत्र्य वेदा वा एते अनंता वै वेदाः'** अर्थात् "ब्रह्मदेव ने भरद्वाज को पहले कभी भी ज्ञात न रहे हुए पर्वतप्राय तीन वेद दिखायें तथा वेदों की उन तीन पर्वततुल्य राशियों में से एक एक मुट्ठी वेद हाथ में लेकर वे बोले—हे भरद्वाज, ये जो तीन पर्वत दिख रहे हैं ये वेदों की तीन राशियाँ हैं, उनमें का एक एक कण एक एक स्वतंत्र वेद ही है। वेद अनंत हैं।" परन्तु हम तो यह निश्चित रूप से जानते हैं कि वेद चार हैं और यदि यह भी मान लिया जाय कि वैदिक साहित्य के कुछ भाग का लोप हो गया है तो भी

आखिर उनकी कोई न कोई सीमा तो होगी ही। तब फिर 'वेद अनंत हैं' इस कथन का क्या अर्थ हो सकता है ? और फिर एक एक कण याने एक एक वेद इसका भी भला क्या अर्थ हो सकता है ? जैसे 'हृदय' एक शब्द है। उसका यदि वेदमंत्र में उच्चारण किया जाय तो वह सामर्थ्यवान् होता है। परन्तु उसका एक एक कण याने एक एक मात्रा का यदि उच्चारण किया जाय वह सामर्थ्यशाली या सार्थ होगा क्या ? लौकिक भाषा में शब्द अथवा पद का अर्थानुरोध से उच्चारण किया जाय तो वह सार्थ होता है, परन्तु उसकी मात्राओं को अलग अलग कर केवल उनका ही उच्चारण किया जाय तो वह निरर्थक व हास्यास्पद ही होगा। जैसे राम शब्द का उच्चार किया अथवा पानी कहा तो वह सार्थ होगा। परन्तु र् आ म् अ, प् आ न् ई—इस प्रकार का उच्चारण किया तो फिर पागलों में ही गिनती होगी। परन्तु वैदिक मंत्रों में मात्राओं के उच्चारण में भी सामर्थ्य बताया गया है तथा पद के अथवा शब्द के एक एक अक्षर के भिन्न भिन्न उच्चारण में भी फलोत्पत्ति मानी गई है। जैसे 'हृदय' शब्द का उदाहरण लें। शतपथ ब्राह्मण में उसके संबंध में कहा गया है : **हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद। द इत्येतदक्षरं ददन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च एवं वेद। यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गलोकं य एवं वेद।**" शब्दों के उच्चारण का ही नहीं, यहाँ तो अक्षरों के भिन्न भिन्न उच्चारण का फलोत्पत्ति से संबंध बताकर प्रत्येक अक्षर का रहस्य स्पष्ट किया गया है। मांडूक्य उपनिषद् ने तो पद का निर्माण करने वाली मात्राओं के उच्चारण को भी सामर्थ्यशील बताकर यह स्पष्ट कहा है कि मात्रा व पाद एक ही वस्तु के पर्याय होने के कारण जिस प्रकार एक पर्याय का दूसरे पर्याय में रूपान्तर होता है उसी प्रकार केवल मात्राओं की सिद्धि से पादों की सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है। मांडूक्योपनिषद् में कहा है—

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। सर्वं ह्येतद्ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म।

"सोऽयमात्माऽध्यक्षमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति। जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽप्तेरादिमत्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद। स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद। सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारः तृतीया मात्रामितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वं अपीतिश्च भवति य एवं वेद।"

यहां पर, सर्व जगत् ॐकार ही है तथा भूत, भविष्य, वर्तमान व त्रिकालातीत ईश्वरी तत्व सभी ओंकार ही हैं यह बताकर, केवल अकार के

उच्चारण से सर्वकामसिद्धि व सर्वश्रेष्ठत्व की प्राप्ति, केवल उकार के उच्चारण से परमज्ञान सिद्धि व कुल में सर्वब्रह्मवित् का निर्माण होना—इस प्रकार प्रत्येक मात्रा के उच्चारण की फलप्राप्ति बताई गई है तथा **'पादाः मात्राः मात्राश्च पादाः'** यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः लौकिक भाषा के समान **'पादाः मात्रार्थाः'** कहा जाना चाहिए। किंतु यहाँ वैसा नहीं कहा गया है। इसका कारण है उसके मूल की यह धारणा कि शब्द का अर्थ से केवल अर्थ संकेत का ही संबंध नहीं है, अपितु उसका अर्थ से—या दूसरे शब्दों में वस्तु से—स्वयंभू अथवा औत्पत्तिक संबंध भी है। शब्द किसी वस्तु का गठन करने वाला स्वतंत्र द्रव्य होने के कारण संपूर्ण पाद अथवा उसकी मात्रा उस द्रव्य के पर्याय ही होते हैं, व इस कारण पाद व मात्रा एक पर्याय का रूपान्तरित दूसरा पर्याय होने के कारण **'मात्रार्थाः'** न कहकर मांडूक्योपनिषद् में **'पादाश्च मात्राः मात्राश्च पादाः'** कहा गया है। शब्द का अर्थ से, याने ही वस्तु से, यह जो जन्य-जनक भाव संबंध है इसी को स्वयंभू अथवा औत्पत्तिक संबंध कहते हैं। प्रत्येक वस्तु के इस स्वयंभू शब्द की जो भाषा है उसे ही ऋग्वेद में श्रेष्ठ भाषा कहा गया है तथा उसका अर्थ से नैसर्गिक संबंध है। परन्तु वह गूढ़ होने के कारण सहजगम्य नहीं है। दूसरी जो यदृच्छा से उत्पन्न हुई सांकेतिक भाषा है वह केवल व्यवहार के लिए ही है। पहली भाषा की नैसर्गिकता व उत्पादन सामर्थ्य के कारण उसके सामर्थ्य से प्रत्यक्ष वस्तु उत्पन्न होगी, परिणाम उत्पन्न होगा। दूसरी सांकेतिक भाषा व्यवहार करती है, परन्तु ऐसे सामर्थ्य की दृष्टि से वह अफल व अपुष्प है। ऋग्वेद में भाषा के ये दोनों प्रकार वर्णित किये गये हैं :—

बृहस्पते प्रथमं वाचः अग्रं यत् प्रऐरत नामऽध्येयं दधानाः।
यत् एषां श्रेष्ठं यत् अरिप्रं आसीत् प्रेणा तत् एषां निऽहितं गुहा आविः ॥

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं उत त्वः शृण्वन् न शृणोति एनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्त्रे जायाऽइव पत्ये उशती सुऽवासाः ॥

यज्ञेन वाचः पदऽवीयं आयन् तां अनु अविन्दत् ऋषिषु प्रऽविष्टाम्।
तां आऽभृत्य वि अदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभिसं नवन्ते ॥

उत त्वं सख्येस्थिरऽपीतं आहुः न एनं हिन्वन्ति अपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति मायया एषः वाचं शुश्रुवान् अफलां अपुष्पाम् ॥
अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनःऽजवेषु असमाः बभूवुः।
आदघ्नासः उपऽकक्षासः ऊं त्वेह्रदाःऽइव स्नात्वा उं त्वे ददृश्रे ॥
त एते वाचं अभिऽपद्य पापयासिरीः तन्त्रं तन्वते अप्रऽजज्ञयः ॥

—(ऋग्वेद मं० १० सू० ७१ ऋचा १, ४, ३, ५, ७ व ९)

"हे बृहस्पति, प्रथम यह जो अग्र याने आजकल की भाषा पढ़ाई जाती है

उसका संबंध नामरूप से जोड़ा गया है (अर्थात् वह सांकेतिक है)। इससे भी बढ़कर जो श्रेष्ठ भाषा है (अर्थात् जिसका नामरूप का सांकेतिक संबंध नहीं है, अपितु स्वयंभू संबंध है) वह भाषा गूढ़ व शुद्ध है तथा उसकी प्राप्ति कृपा से होती है। कोई (अभागी) आँखों से सब कुछ देखता हुआ भी दिव्यवाणी भर को नहीं देख पाता; कानों से सब कुछ सुनता हुआ भी वाणी की दिव्यता को समझ नहीं पाता। कोई विरला ही ऐसा होता है—और वह भी क्वचित ही—जिसको वह दिव्यवाणी अनेक विभ्रमों से युक्त अपनी काया दिखलाती है, मानों वस्त्रालंकार से मंडित कोई पतिव्रता अपने पति के पास जाती हो (अर्थात् अपने सारे रहस्य खोल देती है)। यज्ञ की सहायता से सत्पुरुष इस दिव्यवाणी के साक्षात्कार का प्रयत्न करने लगे। उन्हें वह दिव्यवाणी ऋषियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट हुई दिखाई दी। वहाँ से उसे आधीन कर उन्होंने उसकी भिन्न भिन्न प्रकार से योजना की, इसलिए उसे लक्ष्य कर सात कवि स्तोत्र गायन करते रहते हैं। इस दिव्यवाणी की दिव्यता का जिसे एक बार साक्षात्कार हो जाता है वह फिर उसका आश्रय कभी नहीं छोड़ता तथा वह इतना निर्भय हो जाता है कि फिर उसे कोई भी सत्त्वपराक्रम के किसी कार्य से परावृत्त नहीं कर सकता। परन्तु जिसे वाणी की इस दिव्यता का साक्षात्कार नहीं हुआ वह इस अधेनु (कल्याण की दृष्टि से निरुपयोगी), अफल (निष्फल) व अपुष्प (अविकसित) शब्द व्यवहार की भूलभुलैयाँ में पड़कर अपना जीवन बिताता है। कान पर से शब्द आते जाते रहते हैं पर न तो उनमें बहार रहती है और न ही फलप्राप्ति। (ऐसा होने के कारण) सबको ही कान व नेत्र रहते हैं तथा अन्य प्रकार का सादृश्य भी होता है, परन्तु धारणा शक्ति की दृष्टि से प्रत्येक में अन्तर होने के कारण (दिव्यवाणी के साक्षात्कार के बारे में) सब कोई एक जैसे नहीं रहते। जैसे कुछ जलाशय गले तक गहरे रहते हैं तो कुछ कमर तक ही होते हैं परन्तु कुछ इतने अथाह होते हैं कि उनमें डुबकी मार कर भी तैरा जा सकता है। इस वाणी के सान्निध्य में रहने के पश्चात् भी मूढ़जन अंतःकरण में पापवासना संजोकर अपनी ही बुद्धि से कुछ न कुछ उठा-पटक करते रहते हैं।"

यह जो अर्थ से अर्थात् पदार्थ मात्र से औत्पत्तिक, स्वयंभू अथवा नैसर्गिक संबंध से संबद्ध दिव्यवाणी है वही वेदवाणी है। ऋग्वेद में ही कहा है कि उसके सामर्थ्य को न पहचानकर जो केवल ऋचा घोंटता बैठता है वह भला क्या प्राप्त कर सकेगा ?

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवाः अधिविश्वे निषेदुः। यः तत न वेद किम् ऋचा करिष्यति ये इत् तत् विदुः ते इमे समासते।"

(ऋ० १-१६४-३९)

"यह जड़-विश्व ही नहीं अपितु उसका संचालन करने वाली दिव्य शक्तियाँ (देव) भी स्वर्लोक के समान ही ऋचाओं के अक्षरों में भी वास करती हैं। वे दिव्य शक्तियाँ ऋचाक्षरों में कैसे वास करती हैं यह जो समझ सकेगा वही उन्हें उनमें से प्रगट भी कर सकेगा, परन्तु जिसे इस गूढ़ का आकलन न हो सकेगा उसे ऋचा मात्र का क्या उपयोग हो सकता है ? जो यह समझ सकेंगे वे ही वास्तव में कृतार्थ हो सकेंगे।"

"एकं गर्भं दधिरे सप्तवाणिः", "स वा ऋग्भ्यो अजायत" इत्यादि वचनों में सृष्टि की उत्पत्ति शब्द से बताई गई है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है :— **"त्रयमिदं नामरूपं वा कर्म तेषां नाम्नां वागेव उक्थम् ।"** अर्थात् "नाम, रूप व कर्म की त्रयी ही सारी सृष्टि है, व वाणी ही उसका कारण है ।" शतपथ के इसी कथन का आविष्कार श्रीमन्महाभारत व मनुस्मृति सरीखे जगन्मान्य ग्रंथों में **'साक्षात्कृतधर्माणः'** योग्यता वाले ऋषि श्री व्यास व मनु के द्वारा हुआ है। श्री व्यास व मनु कहते हैं :—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥
नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥

—महाभारत शांतिपर्व २३३-२४, २५

सर्वेषां तु सनामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

—मनुस्मृति १-२१

"जिससे समस्त जगत् की उत्पत्ति हुई है उस अनादिनिधन व नित्य वेदरूपी दिव्यवाणी को जगनिर्माता ने सर्वप्रथम उत्पन्न किया तथा बाद में प्राणिमात्र के नामरूप व उनकी कर्म की प्रेरणा भी परमेश्वर ने वेद शब्दों से ही निर्माण की।

"सब लोगों के भिन्न भिन्न नाम, कर्म व भिन्न भिन्न संस्थाओं की निर्मिति परमेश्वर ने वेदों के शब्दों से ही की है।"

यह स्पष्ट है कि व्यास व मनु के वचनों में ऋग्वेद की यह धारणा ही व्यक्त हुई है कि वेद शब्द सृष्टि के आदिद्रव्य हैं। उसी प्रकार बादरायण के सूत्र **'अतएब च नित्यत्वं'** के भाष्य में भी भगवत्पूज्यपाद श्रीमदाद्यशंकराचार्य ने यही धारणा प्रगट की है।

परन्तु प्रश्न यह है कि यह धारणा क्या केवल श्रद्धामूलक है अथवा उसके पीछे कोई शास्त्रीय आधारभूत विचार है, और यदि ऐसा कोई विचार है तो

क्या उसे आधुनिक पद्धति से मंडित किया जा सकता है ? प्राचीन मीमांसकों के ग्रंथों में तथा आजकल की पंडितसभाओं में भी इस प्रश्न की चर्चा व उस पर उत्तर प्रत्युत्तर होते रहते हैं। परन्तु वहाँ वचनप्रामाण्य एवं निरर्थक श्लेषों का प्रचार होने के कारण आज के मनुष्य का, जिसकी श्रद्धा की नींव उखड़ गई है, समाधान होना कठिन है। वास्तव में देखा जाय तो प्राचीन पंडितों एवं मीमाँसकों के शब्दप्रामाण्य पर हँसने का आज के नवमानव को कोई कारण नहीं क्योंकि वह स्वयं भी वचन प्रामाण्यवादी है। किसके वचन प्रमाण माने जावें इसका ही केवल झगड़ा रहता है। आज का मनुष्य भी एडिसन, आईन्स्टीन आदि के नामों व वचनों को प्रमाण मान लेता है। स्वतः प्रयोगशाला में जाकर वह प्रयोग नहीं करता। परन्तु ऐसा करने में मैं कोई गलती कर रहा हूँ यह वह नहीं मानता। क्योंकि आज के आईन्स्टीन आदि शास्त्रज्ञों पर, उनकी प्रामाणिकता पर एवं उनकी प्रयोगशालाओं की निर्णायकता पर उसका विश्वास रहता है। इसी को श्रद्धा कहते हैं। पहले के मनुष्यों की भी इसी प्रकार व्यास, मनु, पतंजलि, श्रीशंकराचार्य आदि की सत्यनिष्ठा एवं उनके योगसरीखे प्रयोगशास्त्र पर श्रद्धा रहती थी व इसी कारण वे उनके वचनों पर विश्वास रखते थे तथा दूसरों को भी वैसा करने के लिए कहते थे। पर जिनमें इस प्रकार की श्रद्धा नहीं है उनको कोई बात तभी विचारार्ह लग सकती है जब उसमें निहित मूलभूत शास्त्रीय विचार की उन्हें कल्पना दी जाय। आजकल के मनुष्य की श्रद्धा प्राचीन वचनों पर से उठ गई है। इसी कारण इस मूलभूत शास्त्र का विचार करने की आज आवश्यकता उत्पन्न हुई है। उदाहरणार्थ, श्री तुकाराम महाराज सदेह बैकुंठ को गये। इस उल्लेख को सुनकर यदि किसी प्राचीन सश्रद्ध व्यक्ति ने पूछा कि वे कैसे वहाँ जा सके तो इसके उत्तर के रूप में यदि यह कहा जाय कि धर्मराज युधिष्ठिर के सदेह स्वर्ग जाने का उल्लेख महाभारत में है तथा श्री तुकाराम महाराज भी धर्मराज के समान ही पुण्यश्लोक होने के कारण सदेह बैकुंठ गये, तो इस तर्कपद्धति से उसका समाधान हो जाएगा। परन्तु आज के मनुष्य की महाभारत के ऊपर ही श्रद्धा न होने के कारण उसके सामने यदि यही उत्तर दिया गया तो वह सहज ही प्रश्न करेगा कि युधिष्ठिर भी सदेह स्वर्ग गये यही क्या गप्प या कविकल्पना नहीं हो सकती ? अतः ऐसा मनुष्य श्री तुकाराम के सदेह स्वर्ग जाने को एक गम्भीर विचारार्ह घटना माने इसके लिए यह आवश्यक है कि सप्तलोकात्मक विश्व की शास्त्रीय कल्पना, योग की सहायता से शरीर को पंचत्व में विलीन कर सकने की संभावना, मानवी शरीर के पृथ्वी-परमाणुओं की तेज-परमाणुओं में रूपान्तरित किये जा सकने की शक्यता तथा उसके मूल में निहित प्रत्यक्ष प्रायोगिक शास्त्र की प्रक्रिया उसके सामने

रखी जाय। इसलिए वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिए प्राचीन मीमांसकों के तर्क अब उपयोगी नहीं हैं।

वेदों का कर्त्ता कौन है यह बताना किसी को संभव न होने के कारण वे अपौरुषेय हैं, ऐसा मीमांसकों का एक तर्क है। परन्तु यही बात किसी एक लोकगीत के संबंध में भी सत्य हो सकती है। ऐसी अवस्था में उसे अपौरुषेय कहा जा सकेगा क्या ? दूसरा एक युक्तिवाद है कि वेदों के अध्ययन अध्यापन की गुरु-शिष्य परम्परा अनादि है। परन्तु प्रायः प्रत्येक ही संप्रदाय की परम्परा के संबंध में ऐसा कहा जा सकता है। तब फिर वेदों के अनादित्व व अपौरुषेयत्व का क्या महत्व है ? वेद यदि मंत्र हैं और यदि वे नित्य हैं तो उनके उच्चार की पद्धति भी एक ही होनी चाहिए। तब फिर वैदिकों के शाखा भिन्नत्व एवं भिन्न भिन्न शाखाओं के अनुसार भिन्न भिन्न उच्चारण पद्धतियों की क्या संगति हो सकती है ? ऐसी अवस्था में निरुक्तकार के मंत्रविषयक मंत्र **'नियतवाचो युक्तयो'** का कोई अर्थ नहीं रहता। पुराने लोगों का उत्तर है कि मंत्र में सामर्थ्य ईश्वरीकर्तृत्व के कारण उत्पन्न हुआ तथा शाखाभेद अध्ययन दोष के कारण उत्पन्न हुए। परन्तु यदि दोष उत्पन्न हुए हैं तो उन्हें दूर किया जाना चाहिए या उन्हें ज्यों का त्यों शाखा भेद के रूप में चालू रखना चाहिए ? इस बात का उनके पास कोई उत्तर नहीं है और इस कारण ही भ्रष्ट आचरण के दोष से उनकी मुक्ति नहीं है। इस दोषपरिहार के लिए एक स्पष्टीकरण दिया जाता है—**"यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादिकमिति।"** अर्थात् "वेद नित्य हैं, इस का अर्थ है उनका अर्थ नित्य है, परन्तु वर्णानुपूर्वी अर्थात् शब्दक्रम अनित्य ही है और इसी कारण शाखा भेद उत्पन्न हुआ।" परन्तु यह स्पष्टीकरण स्वयं अपना विरोध करता है। शाखा-भिन्नत्व के पहले स्पष्टीकरण में आने वाला भ्रष्ट उच्चारण का आरोप इस स्पष्टीकरण में भले ही समाप्त हो जाता हो किंतु इससे वेदमंत्रों की मंत्रमयता पर ही आघात होता है। क्योंकि निरुक्त में मंत्रों का जो लक्षण बताया गया है : **"नियतानुपूर्व्या नियतवाचो युक्तयो"** अर्थात् "शब्द, शब्द का अनुक्रम व उच्चारण पद्धति का अविचल रहना" उसका कोई अर्थ ही शेष नहीं रहता। अर्थ को नित्य व शब्द को अनित्य मानने पर फिर गायत्री मंत्र के **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** के स्थान पर **'बुद्धि दे रघुनायका'** कहने से गायत्री मंत्र के उच्चारण का फल प्राप्त होना ही चाहिए। ऐसी अवस्था में वेदों के अँग्रेजी भाषान्तर के आधार पर भी वेदों का अध्ययन किया जा सकता है। इसका एक ही परिहार है, और वह यह कि कल्प के आरंभ में परमेश्वर द्वारा ऐसा ही उच्चारण निश्चित किया गया है और इसलिए ऐसा ही उच्चारण किया जाना चाहिए। परन्तु यहाँ केवल श्रद्धा का

प्रश्न उपस्थित हुआ, शास्त्र का नहीं। अपौरुषेयत्व के संकेत के मूल में कोई शास्त्रीय प्रणाली है क्या ? है तो कौनसी है ? ऋग्वेद के मंत्रदृष्टा, मनु व व्यास जो यह कहते हैं कि वेदों से समस्त जगत् का निर्माण हुआ, उसमें कुछ शास्त्रीयता है क्या ?

लोकमान्य तिलक ने अपने 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़्' के अंतिम प्रकरण में इस विषय का उल्लेख भर कर दिया है, विवेचन नहीं किया। वेद शब्द हैं। वेदों से जगत् का निर्माण हुआ इसका अर्थ है शब्द से जगत् का निर्माण हुआ। लोकमान्य ने कहा है कि "शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति का प्रश्न ऐतिहासिक विवेचन की सीमा के बाहर का है।" उनके ग्रंथ के विवेचन की दृष्टि से यह प्रश्न भले ही बाहर का हो, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण का तो यही प्रतिपाद्य विषय है। और इसका प्रतिपादन करते समय हम उनके ग्रंथ के अंतिम वाक्य में जैसा कहा गया है कि 'हमारे आर्यों के आद्यग्रंथों की कथा एवं बिल्कुल आधुनिक अनुसन्धानों का मेल मिलाते समय आज की धारणा का ही अनुकरण किया गया है,' उसी के अनुसार इसका विवेचन करेंगे।

वैदिक दृष्टिकोण से सृष्टि की उत्पत्ति

वेद मंत्र हैं, और इस कारण उनकी अपौरुषेयता का स्पष्टीकरण करते समय मंत्रशास्त्र की विचारप्रणाली का स्पष्टीकरण हो जाता है। आधुनिक संस्कारों से युक्त मनुष्य ने यह धारणा बनाली है कि मंत्र अथवा मंत्रशास्त्र गूढ़ एवं निरर्थक बड़बड़ के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परन्तु वास्तव में यह एक भारतीय शास्त्र है व उसे शास्त्र समझकर ही उसका विचार करना प्रामाणिकता की दृष्टि से आवश्यक है। जस्टिस वुड्रोफ कहता है—

*एक प्रसिद्ध भारतीय के मतानुसार मंत्र एक निरर्थक बड़बड़ मात्र है। जब भारतीय ही अपने शास्त्रों के बारे में इस प्रकार बोलते हैं, तब यदि यूरोपीय उन्हें निरर्थक समझें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। यूरोपीय लोग, गलती से ही क्यों न हो, यह समझते हैं कि एक भारतीय अपने विश्वासों को अच्छी तरह समझता है और यदि वह कहता है कि वे निरर्थक हैं तो वे वास्तव में निरर्थक ही होंगे। उन लोगों को भी, जो पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से

---

*Mantra in the words of a distinguished Indian has been called a meaningless jabber. When we find Indians thus talking of their Shastras, it is not surprising that Europeans should take it to be of no account. They naturally, though erroneously, suppose that Indian always understands his own beliefs and that if he says that they are absurd, it is taken that they are so. Even however amongst Indians who have not lost themselves through an English education, the science of Mantra is largely unknown.

अछूते बचे हैं, मंत्रशास्त्र प्रायः अज्ञात ही हैं। आजकल मीमांसा के अभ्यासक भी अधिक नहीं हैं। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले भारतीयों ने अन्य बातों के समान ही इस बारे में भी अपने पाश्चात्य गुरुओं के दृष्टिकोण का ही अनुकरण किया है तथा उनसे उधार लिये हुए मत के आधार पर मंत्रविद्या को हेय समझ लिया है। उनमें कई तो ऐसे हैं जिन्होंने अपनी संस्कृति का विचार ही नहीं किया है तथा नये दीयों के बदले में पुराने दीये बेचने के लिए अतीव आतुर रहते हैं। परन्तु दीये केवल नये हैं इसीलिए वे अच्छा प्रकाश देंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टिकोण में परिवर्तन होना चाहिए और वह होगा भी। भारतीयों को चाहिए कि अपनी सांस्कृतिक धरोहर को हेय एवं त्याज्य समझने के पूर्व वे उसका अध्ययन करें एवं उसे समझें। यह सत्य है कि मंत्र का अर्थ न समझने वालों को मंत्र अर्थहीन ही हैं। परन्तु जो उनका अर्थ समझते हैं उनके लिए वह अनर्गल प्रलाप नहीं है। यह ठीक है कि अन्य बातों के समान ही यह भी अंधविश्वास का विषय बन गया है। किसी एक व्यापारी के कार्यालय में सांकेतिक भाषा में लिखा हुआ तार, उस भाषा को न समझने वालों के लिए कोई अर्थ नहीं रखता परन्तु जिसे वह भाषा आती है वह उस भाषा के सहारे उसका अर्थ लगाकर लाखों रुपये का लाभ उठा सकता है। सच हो या झूठ, पर यह निश्चित है कि मंत्रविद्या एक गम्भीर और अर्थपूर्ण शास्त्र है।

There are not many students of Mimansa nowadays. The English educated has in this, as in other matters generally taken the clue from their Western Gurus and passed upon Mantra Vidya a borrowed condemnation. There are those among them who have in the past thought little of their own culture and have been only willing to sell their old lamps for new ones. Because they are new, they will not always give better light. Let us hope this will change as indeed it will. Before the Indian condemns his cultural inheritance, let him at least first study and understand it. It is true that Mantra is meaningless to those who do not know its meaning. But to those who do, it is not jabber. Though of course, like everything else, it may become, and indeed has become, the subject of ignorance and superstitious use. A telegram written in a code in a merchant's office, will seem the merest gibberish to those who do not know the code. Those who do may spell out a translation bringing lakhs of real rupees to those who have sent it. Mantra Vidya, whether it be true or not, is a profoundly conceived science.

(Shakti and Shakta pp. 452)

कई लोग मंत्र को प्रार्थना समझते हैं। परन्तु मंत्र प्रार्थना नहीं है । क्योंकि प्रार्थना में साधक की इच्छानुसार शब्दों में मनचाहे परिवर्तन किये जा सकते हैं । परन्तु मंत्र **'नियतवाचो युक्ति'** होने के कारण उसके निश्चित शब्दों में कोई बदल नहीं हो सकता । मंत्र याने शब्द समूह, परन्तु सामर्थ्यवान् शब्द समूह । वेदों की अपौरुषेयता की धारणा एवं मंत्रों की इस विशिष्ट प्रक्रिया की गुत्थी सुलझाने के लिए सर्वप्रथम शब्द क्या है यह देखने की आवश्यकता है । महर्षि पतंजलि ने अपने व्याकरण के महाभाष्य के पहले ही पस्पश आन्हिक में शब्द की व्याख्या निम्नानुसार की है :—

"प्रतीतपदार्थकः लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते ।" (जिसके कारण प्रत्यक्ष पदार्थ का अनुभव होता है उस ध्वनि अथवा नाद को शब्द कहते हैं ।) इससे स्पष्ट है कि शब्द एक नाद है, ध्वनि है, व सार्थ ध्वनि को ही शब्द कहते हैं । इस कारण शब्द का विचार करने का अर्थ है नाद का ही विचार करना ।

व्यक्तमध्य

हमारे शास्त्रों का सिद्धान्त है कि एक अव्यक्त तत्त्व से यह समस्त व्यक्त सृष्टि उत्पन्न होती है तथा पुनः उसी अव्यक्त तत्त्व में विलीन हो जाती है । इस कारण हमारे शास्त्रकारों ने जगत् का लक्षण अथवा वर्णन 'व्यक्तमध्य' शब्द से किया है । अव्यक्त में से व्यक्त होने वाली यह सृष्टि चाहे जिस ढंग से व्यक्त नहीं होती अपितु उसके व्यक्त होने का एक विशिष्ट क्रम है और उसी क्रम से वह अपने मूलतत्त्व में विलीन हो जाती है । सृष्टि के व्यक्त होने का क्रम उपनिषद् साहित्य में निम्नानुसार बताया गया है—

"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी ।" समस्त जगत् में फैले हुए आत्मतत्त्व में अकेला मैं ही विद्यमान हूँ तथा मुझमें अनेक होने की इच्छा सर्वप्रथम उत्पन्न हुई । मूलतत्त्व की यह इच्छारूप प्रेरणा ही सृष्टि की निर्मिति का वास्तविक कारण है । सृष्टि की यह निर्मिति उस मूलतत्त्व से भिन्न नहीं है अपितु वह एक ही तत्त्व नानारूप में प्रगट हुआ है । इस प्रेरणा के पश्चात् आत्मा से उत्पन्न होने वाली पहली सृष्टि, अर्थात् अव्यक्त का पहला व्यक्तीकरण आकाश के रूप में हुआ । आगे चलकर आकाश से वायु उत्पन्न हुआ । वायु याने गतितत्त्व । आकाशरूपी सघन अस्तित्व के आश्रय से गतितत्त्व के ये विविध आन्दोलन चलते रहते हैं । आकाश वायु का कारण है । वायु से तेज की उत्पत्ति होने के कारण वायु तेज का कारण है । उसी प्रकार तेज आपतत्त्व (जलतत्त्व) का व आपतत्त्व पृथ्वीतत्त्व का कारण है । तदनंतर पृथ्वी पर धीरे धीरे वनस्पति, प्राणी आदि उत्पन्न हुए यह सीधी सी बात है । जब सृष्टिक्रम के इस विस्तार के उपसंहार का समय समुपस्थित होता है तब वनस्पति व प्राणीमात्र पृथ्वीतत्त्व में, पृथ्वीतत्त्व

आपतत्त्व में, आपतत्त्व तेजतत्त्व में, तेजतत्त्व वायुतत्त्व में तथा वायुतत्त्व आकाशतत्त्व में विलीन हो जाता है। यह आकाशतत्त्व आत्मा की प्रेरणा में तथा वह प्रेरणा आत्मतत्त्व में विलीन हो जाती है। इस प्रकार यह लय का क्रम है। उपनिषदों में कहीं कहीं तीन ही महाभूतों का वर्णन है। परन्तु आत्मा से पहली सृष्टि आकाश की हुई और तदनंतर इतर सर्व सृष्टि उत्पन्न हुई। इस बारे में वेद व उपनिषद् साहित्य में कहीं भी मतभेद नहीं है। इसका सरल अर्थ यह कि व्यक्त सृष्टि का आदिद्रव्य आकाश है। परन्तु आकाश याने क्या ?

अद्वैत दर्शन की परिभाषा के अनुसार पृथ्वी, आप, तेज, वायु, व आकाश— ये पाँच महाभूत पंचीकरण से, अर्थात् इन पाँचों तत्त्वों के मिश्रण से उत्पन्न हुए हैं तथा उनके आज के स्वरूप शुद्ध व अमिश्रित नहीं हैं। इन पाँचों ही महाभूतों का मूलभूतस्वरूप है शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध। इसका अर्थ यह है कि जिसे हम आकाश कहते हैं उसका स्वरूप मिश्र है तथा उसका शुद्ध स्वरूप केवल नाद अथवा शब्द है। इसीलिए शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध को पंचमहाभूतों की तन्मात्रा कहते हैं। तन्मात्रा याने मिश्रणरहित शुद्ध स्वरूप। सांख्यशास्त्र के अनुसार आकाश द्रव्य है व शब्द उसका गुण है। इससे सहज ही यह अर्थ प्रगट होता है कि सम्पूर्ण व्यक्त सृष्टि का आदिद्रव्य शब्द अथवा ध्वनि है। दूसरे शब्दों में वह जगत् का घटकद्रव्य अथवा उपादान कारण है। इस प्रकार शब्द ही समस्त जगत् का उपादान कारण होने के कारण शास्त्रों में जगत् का वर्णन **'नादबिन्दुमयकलासुन्दरी'** कहकर किया गया है।

परन्तु प्रश्न है कि शब्द आकाश कैसे ? आकाश शब्द में 'आ' उपसर्ग है व 'काश' धातु। 'काश' याने 'प्रकाशित होना'। इस धात्वर्थ पर ध्यान देने से **'आसमंतात् काश'** यह शब्द तैयार होता है। आकाश शब्द का अर्थ है अव्यक्त का पहला व्यक्तीकरण, अप्रकाशित का पहले प्रकाश में आना। आत्मा से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ, इस विधान का अर्थ अब अधिक स्पष्ट हो जाएगा। आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ याने पहला व्यक्तीकरण हुआ। परन्तु उस व्यक्तीकरण का स्वरूप क्या था ? स्पष्ट है कि वह व्यक्तीकरण शब्द अथवा नाद के रूप में हुआ। परन्तु इस प्रकार यदि हम शब्द को जगत् का आदिद्रव्य या उपादान कारण मानें तो वेदान्ती चिल्ला उठेंगे क्योंकि उनके मतानुसार जगत् का उपादानकारण ब्रह्म है, इस कारण शब्द को जगत् का उपादान कारण मानना याने उपनिषदों से ही द्रोह करना है। स्वतः श्रीमद्-भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य में कहा है : **"न चेदं शब्द-प्रभवत्वं उपादानकारणाभिप्रायेण उच्यते।"** अर्थात् जग शब्द से उत्पन्न हुआ इसका अर्थ शब्द जग का उपादान कारण है ऐसा नहीं है। तात्पर्य, वेदान्त के मतानुसार शब्द जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता। परन्तु इस संबंध में गुरुवर्य श्री अप्रवुद्ध ने अपने ग्रंथ **"वैदिक संस्कृतिची पुनर्घटना"** में

आचार्य का भाष्य सम्हालते हुए जो स्पष्टीकरण दिया है वह पर्याप्त है। गुरुवर्य श्री अप्रबुद्ध कहते हैं : "वेदान्तसूत्र के अनुसार ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है व बाकी सब अध्यास है। श्रीशंकराचार्य ने जो यह कहा है कि ब्रह्म के अतिरिक्त जो जो भासमान होता है वह अध्यास है और वास्तव में उसकी कोई सत्ता नहीं, वह केवल **परमार्थतः** कहा है। जगत् की पारमार्थिक सत्ता उन्हें भले ही मान्य न हो परन्तु उसकी व्यावहारिक सत्ता को वे अमान्य नहीं कर सके हैं। सपेरे के साँप को बार बार मिथ्या कहने पर भी उसने हाथ को डसकर रक्त निकाला यह बात वामन पंडित अस्वीकृत नहीं कर सके। वस्तुतः जब हम जगत् की व्यावहारिक सत्ता का विचार करते हैं तब उसकी समस्त कार्यकारणादि नियमों की प्रणाली, व्यावहारिक सत्ता की दृष्टि से ही क्यों न हो, हमें ज्यों की त्यों मान्य करना पड़ती है ऐसी अवस्था में मनुष्य की बुद्धि के दायरे में आ सकनेवाला अध्यस्त नाद व्यक्त अवस्था में **'धाता यथा पूर्वं'** के अनुसार नित्य उपादानकारण है। नाद भी अध्यास ही है, और यदि हम मान लें कि **'बुद्धेः परतः'** अर्थात् बुद्धि को भी अग्राह्य ब्रह्म उस नाद का भी उपादान कारण है तो समस्या हल हो जाती है। उपादान कारण कोई प्रत्यक्ष वस्तु होती होगी व शब्द कोई प्रत्यक्ष वस्तु है, ये बातें सांख्य व योग की सहायता के बिना समझ में नहीं आ सकतीं।"

यही उपादानकारणभूत शब्द सृष्टिरूप में प्रगट हुआ। अब हम यदि इस बात पर ध्यान दें कि प्रत्येक वस्तु का वास्तविक स्वरूप नाद ही है तो शब्द अथवा नाद से सृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य समझ में आ जाएगा। 'पदार्थ' शब्द में भी यही भाव अभिप्रेत है। अर्थ याने जगत् की यच्चयावत् वस्तु व पद याने उसका घटक शब्द अथवा नादद्रव्य। इस प्रकार वैदिकों के अनुसार समस्त सृष्टि अथवा विश्व का आदिद्रव्य शब्द होने के कारण देव, देवता भी शब्द से ही उत्पन्न हुए और इस कारण ऋचा के इस वचन का, कि ऋचाओं में देव भी निवास करते हैं, अर्थ स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि समस्त सृष्टि में आधिभौतिक सृष्टि के साथ साथ आधिदैविक सृष्टि का भी समावेश होता है।

शब्द ब्रह्म

आधुनिक शास्त्रानुसार समस्त सृष्टि का एक आधारभूत द्रव्य है जिसके आधार पर चलने वाला गतिस्वरूप परमाणुओं का आन्दोलन ही जगत् का मूलस्वरूप है। जिन इलेक्ट्रोन्स (Electrons) को आज जगत् का मूल द्रव्य समझा जाता है वे शक्ति प्रवाह हैं तथा प्रचंड गतिमयता ही उनका स्वरूप है। विभिन्न कल्पनातीत गतियों से घूमने वाले इन विद्युत् परमाणुओं का संघ ही वस्तु है तथा पदार्थों की परस्पर भिन्नता केवल उनकी गति की भिन्नता पर ही निर्भर रहती है। आज के शास्त्रज्ञों का मत है कि प्रकाश व ध्वनि एक ही

मूलद्रव्य में होने वाले आन्दोलनों के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं; मूलतः उनमें कोई भेद नहीं है। इन आंदोलनों की भिन्न भिन्न संख्या ही भिन्न भिन्न प्रतीतियों का मुख्य कारण है। व्यक्त सृष्टि में केवल अनंत अपरिमित गतितत्त्व है तथा कालक्रम व उस गति के परस्पर प्रमाण के आधार पर सृष्टि में नानात्व दिखाई देता है। वस्तुतः एक अखंड गति के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड में और कुछ भी नहीं है यह आज के शास्त्रज्ञों का मत है। अपने ग्रंथ 'Mysterious Universe' में सर जेम्स जीन्स लिखते हैं—

*"आज का भौतिक विज्ञान इस सम्पूर्ण जड़ विश्व को केवल गतिमान तरंगें मानने की ओर ही अग्रसर हो रहा है। ये तरंगें दो प्रकार की होती हैं। एक होती हैं परिसीमित तरंगें जिन्हें हम प्रकाश अथवा किरणोत्सर्ग कहते हैं। यदि संपूर्ण जड़ पदार्थ का नाश हुआ तो केवल यही होगा कि परिसीमित तरंगों की शक्ति अपनी सीमा के बंधन को तोड़कर मुक्त आकाश में स्वतंत्र रूप से संचार करने लगेगी। इन व्याख्याओं से यही सिद्ध होता है कि संपूर्ण विश्व का सार व्यक्त अथवा अव्यक्त प्रकाश ही है व इस कारण सृष्टि की जन्मकथा अत्यंत यथार्थता पूर्वक एवं पूर्णता से केवल इन छः शब्दों में कही जा सकती है—'God said let there be light.' (ईश्वर ने कहा कि प्रकाश होवे)।"

तात्पर्य यह कि आधुनिक शास्त्रानुसार अखंड गतिमय इलेक्ट्रोन्स व उनके कारण आकाश तत्व में होने वाला अखंड आन्दोलन ही जगत् का वास्तविक स्वरूप है। और मनुष्य को इस प्रकार के जगत् की भिन्न भिन्न प्रकार से होने वाली प्रतीति इस बात पर निर्भर करती है कि इस मूलद्रव्य की गतिमान तरंगें उसे किस प्रकार प्रतीत होती हैं या वह स्वयं उन्हें किस रूप में देखता है। जगत् का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य के पास केवल पाँच ही यंत्र हैं। वे यंत्र या साधन हैं उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ—कान, नाक, आँख, जिह्वा व त्वचा। मूलद्रव्य की गतिमान लहरों का इन यन्त्रों पर उनके कम अधिक सामर्थ्य के अनुसार परिणाम होकर उनकी अभिव्यक्ति के रूप में वह परिणाम बाहर आता है। इसके साथ ही यदि हम आधुनिक शास्त्र के इस सिद्धान्त पर

---

*"The tendency of modern Physics is to resolve the whole material Universe into waves and nothing but waves. These waves are of two kinds. Bottled up waves which we call radiation or light. If annihilation of matter occurs the process is merely that of unbottling imprisoned wave energy and setting it free to travel through space. These concepts reduce the whole Universe to a world of light, potential or existent so that the whole story of its creation can be told with perfect accuracy and completeness in six words 'God said let there be light."

ध्यान दें कि प्रकाश व ध्वनि एक ही मूलद्रव्य में होने वाले आन्दोलनों की भिन्न भिन्न स्थितियाँ मात्र हैं, तो आज जिस प्रकार सर जेम्स जीन्स के मतानुसार मूलद्रव्य को गतिमान तरंगों की विशिष्ट सघनता मानकर हम यह कह सकते हैं कि पदार्थ का मूल स्वरूप प्रकाश है, उसी प्रकार दूसरी विशिष्ट सघनता मानकर हम यह भी कह सकते हैं कि पदार्थ का मूलस्वरूप ध्वनि है। इस प्रकार विद्युत्-परमाणुओं की गति व उनके कारण आकाशतत्त्व में होने वाला आन्दोलन ध्वनि-रूप है, यह स्पष्ट दिखाई देता है और इस कारण वेदों का यह सिद्धान्त कि समस्त सृष्टि का आदिद्रव्य ध्वनि है, आज की वैज्ञानिक कसौटी पर भी खरा उतरता है। इस ध्वनिमय जगत् की प्रतीति पाँच ज्ञानेन्द्रियों को उनकी मर्यादित शक्ति के कारण मर्यादित रूप में होती है। परन्तु यदि इन ज्ञानेन्द्रियों की सूक्ष्मता व सामर्थ्य को बढ़ाया जा सके तो एक ही वस्तु की प्रतीति पाँच प्रकार से हो सकती है। अत्यंत तीव्र प्रकाशयुक्त क्ष-किरणों की प्रतीति आखों को नहीं होती क्योंकि नेत्रेन्द्रिय की शक्ति मर्यादित है। वही हाल कान का भी है। अभी हमने देखा कि आज के शास्त्र की दृष्टि से भी ध्वनिमयता ही सृष्टि का वास्तविक स्वरूप है। किंतु इस आधार पर यदि हम उस मूलभूत ध्वनि को सुनने का प्रयत्न करें तो यह संभव न हो सकेगा। वातावरण के कारण मनुष्य को ध्वनि सुनाई देती है। परन्तु ये ध्वनितरंग स्थूलस्वरूप की हैं। ध्वनितरंगों के कारण जिस समय वातावरण कम्पित होता है उस समय मूलद्रव्य में भी कंपन होता है। किंतु उस कंपन की सूक्ष्मतरंगों की संवेदना हमारी इंद्रियाँ अनुभव नहीं कर सकतीं। विशेष तरंगों की प्रकाशात्मकता के द्वारा अवश्य ही विशेष मर्यादा तक प्रतीति प्राप्त करने की सुविधा आधुनिक यंत्रों ने प्रदान की है। यदि हम अपनी कर्णेन्द्रिय की शक्ति वढ़ा सकें और किसी पद्धति से कान व आँख दोनों की संवेदना शक्ति बढ़ाकर एक ही स्तर पर कर सकें तो एक ही तरंग की सघनता के कारण भासमान होने वाली वस्तु हम ध्वनिरूप में सुन भी सकेंगे व उसी समय वर्णरूप में देख भी सकेंगे। और यदि पाँचों ही ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति तुल्यबल की जा सके तो एक ही वस्तु की प्रतीति शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध—इन पाँचों ही प्रकार से हो सकती है। यह बात जो हमने तर्कशास्त्र की दृष्टि से सिद्ध की वही बात भारतीय शास्त्रकारों ने प्रत्यक्ष अनुभव के नाते व्यक्त की है। योगशास्त्र कहता है कि इन्द्रियाँ इस प्रकार सूक्ष्म संवेदनाक्षम बनाई जा सकती हैं और इसी को लक्ष्यकर दिव्य दृष्टि आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। और इसी विशिष्ट शक्ति की सहायता से प्रतीति प्राप्त कर ऋग्वेद सरीखी शब्दराशि के रूप का वर्णन उसकी ध्वनिमयता के साथ साथ परम्परा से चले

आये हुए चरणव्यूह सरीखे ग्रंथों में किया गया है। चरणव्यूह में वर्णित जिस ऋग्वेद के रूप व वर्ण का हमने आरंभ में ही उल्लेख किया है उसकी उपपत्ति उक्त प्रकार की है। यह सम्पूर्ण जगत् पाँच विषयों का व लोकात्मक है व उसमें केवल आकाश ही सबको व्याप्त किये हुए है जिसका गुण है शब्द। आकाश ने समस्त विश्व को व्याप्त किया है इस का अर्थ यह है कि उसके गुण शब्द ने, या यदि हम आज की परिभाषा में बोलें तो तरंगों ने समस्त विश्व को व्याप्त किया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु के दो स्वरूप होंगे। एक स्वरूप वह है जो स्थूल इंद्रियों को प्रतीत होता है तथा दूसरा वह है जो नादतरंगों के समूह के रूप में विद्यमान है। हमारे शास्त्रकारों का कथन है कि यदि हमने केवल कर्णेन्द्रियों के द्वारा ही समग्र विश्व का अनुभव लेने का प्रयास किया तो उसकी संवेदना ॐ शब्द के उच्चारण जैसी होगी। और इसीलिए पहले दर्शाये अनुसार मांडूक्योपनिषद् ने ॐ को ही विश्व का मूलद्रव्य मानकर विश्व के नानात्व को उस ॐ का स्पष्टीकरण कहा है। आज के जग को विश्व की नादमयता का ज्ञान है। हमारे शास्त्रों ने इससे भी एक कदम आगे जाकर यह कहा है कि ये आकाशरूपी द्रव्य व उसकी गतिमान तरंगें स्वयंभू नहीं हैं प्रत्युत उनके भी परे उनकी गति को नियंत्रित करने वाली एक अखंड ज्ञानमयी इच्छा है। उनका कथन है कि यह इच्छा जिस परब्रह्म की है वह परब्रह्म ही हमारे हृदय में आतमा के रूप में व्यक्त हुआ है व इस कारण आतमा भी अपनी इच्छाशक्ति से इस गतिक्रम में स्थित्यंतर उत्पन्न कर सकती है। प्रत्येक पदार्थ शब्द का ही एक व्यक्त स्वरूप है। जीव ने यदि अखंड इच्छा व ज्ञानशक्ति रूप परमेश्वर से तादात्म्य प्राप्त कर लिया तो वह कुछ अंशों में ध्वनितरंगों पर परिणाम उत्पन्न कर सकता है, अर्थात् सृष्टि के वातावरण में विशिष्ट परिणाम उत्पन्न किया जा सकता है। भगवान् पतंजलि ने योगशास्त्र के इस सिद्धान्त को **'क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः'** व **'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्'** इन दो सूत्रों द्वारा मंडित किया है। अस्तु। इस प्रकार यह देख लेने पर कि किसी भी अवस्था में रहने वाली प्रत्येक वस्तु का एक मूलभूत शब्दात्मक स्वरूप होता है, हम यह कह सकते हैं कि शब्द अथवा नाद ही उस वस्तु का बीज है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक वस्तु के इस स्वरूप को हम नित्य, स्वयंभू व अपौरुषेय कहें तो क्या यह अधिक उचित न होगा? और इसके अतिरिक्त हम कह भी क्या सकते हैं? यह कहना कि जिन्होंने इलेक्ट्रोन्स की खोज की, उन्होंने ही उसका निर्माण किया क्या हास्यास्पद न होगा? उसी प्रकार इस विश्व की नादमयता जिसने खोज निकाली व जिसने उसकी तरंगों के क्रम का ज्ञान प्राप्त किया, उसने ही उनका निर्माण भी किया यह कहना भी हास्यास्पद ही होगा। इसी विषय का प्रतिपादन करते हुए जस्टिस् वुड्रॉफ कहते हैं—

*"शब्द का वास्तविक अर्थ है नाद तथा साधारणतः उसका अनुवाद भी वही किया जाता है। मूल धातु 'शब्द्' (याने ध्वनि करना) से वह निकला है। हम इसे केवल वह नाद न समझें जो हम अपने कानों से सुनते हैं अथवा जो विश्व के वातावरण के दबाव के कारण उत्पन्न होता है। यहाँ उसका अर्थ है वायुमंडल की कुछ निश्चित परिसीमाओं के भीतर होने वाली तरंगों का कर्णेन्द्रिय व मस्तिष्क पर होने वाला प्रभाव। इस रूप में नाद केवल कर्णेन्द्रिय से गोचर होने वाली वस्तु है, परन्तु कर्णेन्द्रिय की सूक्ष्मता स्थूलता के अनुसार कोई उसे सुन सकता है कोई नहीं। और सूक्ष्म से सूक्ष्म कान भी जो नहीं सुन सकता वह माइक्रोफोन से सुना जा सकता है। परन्तु कर्णेन्द्रियों पर प्रभाव होता है या नहीं इसका विचार न कर यदि हम शब्द के मूलस्वरूप व नैमित्तिक अवस्थान का विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी प्रकार का स्पन्दन अथवा गतिमयता शब्द ही है; यह गतिमयता केवल वह स्थूल भौतिक गतिमयता नहीं है जो कान व मस्तिष्क के रहते तथा अन्य शारीरिक स्थितियों की परिपूर्णता की अवस्था में मनुष्य के कानों को ध्वनि के रूप में मालूम होती है। इस दृष्टि से शब्द नाद की संभावना या अवस्थान है, भले ही कोई उसे सुन सके या न सुन सके। अतः जहाँ कहीं भी किसी प्रकार का स्पन्दन अथवा गतिमयता होगी वहाँ शब्द अवश्य होगा। आजकल यह कहा जाता है कि धनविद्युत्मय गोल में विद्युतपरमाणु (electrons) प्रचंड गति से चक्कर लगाते हैं। यह रचना यदि स्थाई हो तो

---

*"Shabda literally means and is usually translated sound, the word coming from the root 'shabda' to sound. It must not however be wholly identified with sound in the sense of that which is heard by the ear or sound as effect of cosmic stress. Sound in this sense is the effect produced through excitation of the ear and the brain by vibrations of the atmosphere between certain limits. Sound so understood exists only with the sense organ of hearing; and even then it may be perceived by some and not by others due to keenness or otherwise of natural hearing. Further, the best ears will miss what the microphone gives. Considering Shabda from its primary or casual aspect, independent of the effect which it may or may not produce on the sense organs, it is vibrations (स्पंदन) of any kind or motion which is not merely physical motion which may become sound for human ears, given the existence of the ear and brain and the fulfilment of the physical conditions. Thus Shabda is the possibility of sound and may not be actually sound for this individual or that. There is thus Shabda wherever there is motion or vibration of any kind.

उससे हमें जड़ परमाणु उपलब्ध होता है। इस अणुरचना में से यदि कोई विद्युतपरमाणु मुक्त होकर बाहर निकल पड़े तो किरणोत्सर्ग की प्रक्रिया उत्पन्न होती है। ये चक्कर लगाने वाले तथा निष्क्रमित होने वाले दोनों ही प्रकार के इलेक्ट्रोन्स स्पन्दनरूप हैं और इस कारण शब्द हैं, यद्यपि वे मनुष्य के कानों को गोचर नहीं हैं। किसी दैवीय शक्ति से युक्त कानों को ये समस्त आन्दोलन वातावरण का संगीत भासित होंगे।

यदि मनुष्य की कर्णेन्द्रियाँ परिपूर्ण शक्तियुक्त होतीं तो एक हराभरा वृक्ष उसे विशिष्ट नाद के रूप में प्रतीत हुआ होता। वह विशिष्ट नाद ही उस स्थूल वृक्ष का वास्तविक वाचक शब्द है। शब्द को आकाश (ईथर) का गुण (क्वालिटी) कहा जाता है। इसका अर्थ यह कि आकाश द्रव्य के आधार पर ही कोई भी स्पन्दन संभव है। आकाश याने मूल प्रकृति की वह विशिष्ट अवस्था जो किसी भी प्रकार के स्पंदन अथवा गति को संभव बनाती है। ब्रह्मस्वरूप अथवा चित् निश्चल है। उसे चिदाकाश भी कहते हैं परन्तु यह आकाश उत्पन्न किया हुआ नहीं है। चिदाकाश ब्रह्म है जिसमें किसी प्रकार का दबाव उस परिस्थिति के रूप में प्रगट होता है जिसमें संपूर्ण सृष्टि का सृजन प्रारंभ होता है। शब्दरूप में कान को, स्पर्शरूप में त्वचा को, वर्ण व आकार के रूप में

It is now said that the electrons revolve in a sphere of positive electrification at an enormous rate of motion. If the arrangement is stable we have an atom of matter. If some of the electrons are pitched off from the atomic system, what is called Radioactivity is observed. Both these rotating and shooting electrons are forms of vibrations as Shabda though it is no sound for mortal ears. To a Divine ear, all such movements would constitute the music of the spheres.

Were the human ear subtle enough, a living tree would present itself to it in the form of a particular sound which is the natural word for that tree. It is said of ether (Akasha) that its Guna or quality is Spandana or vibration of any kind. It is that State of premordial, material substance (Prakriti) which makes motion or vibration of any kind possible. The Bhahma swarup or Chit is motionless. It is also known as Chidakash; but this Akasha is not created. Chidakash is the Brahma in which stress of any kind manifests itself a condition from which the whole creation proceeds. This Chidakash is known as the Shabda Brahma through which Mayashakti which is the cause of all vibrations manifesting themselves as the sound to the ear, as taste to the tongue and as odour to the nose. All mental functioning is again a form of vibration (Spandana).

आँखों को, रस के रूप में जिह्वा को व गंध के रूप में नाक को प्रतीत होने वाले स्पन्दन अथवा गतितरंग जिस मायाशक्ति के कारण उत्पन्न होते हैं उस मायाशक्ति के कारण ही यह चिदाकाश शब्द ब्रह्म माना जाता है। समस्त मानसिक क्रियाएं भी एक विशिष्ट प्रकार के स्पन्दन ही हैं। विचार मनोद्रव्य में उत्पन्न होने वाले स्पन्दन हैं; ठीक उसी तरह जिस तरह उन विचारों का शब्द रूप में किया गया प्रगटीकरण कर्णेन्द्रिय का स्पन्दन है। समस्त स्पन्दन वैषम्य से ही उत्पन्न होते हैं। दबाव की विषमताओं से किसी भी प्रकार की हलचल संभव होती है। दो बिंदुओं के बीच विद्युत् का प्रवाह होता है क्योंकि दोनों के विद्युद्दाबों में अन्तर रहता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर द्रव्य इसीलिए बहता है क्योंकि उनके बीच में दबाव का अन्तर रहता है। ताप की असमानता के कारण ही ताप का संचालन होता है। इस सृष्टि में भी जब यह वैषम्य उपस्थित होता है तब गतिमयता उत्पन्न होती है। आकाश के कारण ही किसी भी प्रकार के स्पन्दन की संभावना होती है। इस कारण सृजनक्रम में उसका पहले उत्पन्न होना क्रम प्राप्त है। आकाश याने माया सहित ब्रह्म। यही मायाशक्ति मूल शक्ति की नैसर्गिक समता में वैषम्य उत्पन्न करती है। लय के समय ब्रह्म की यह मायाशक्ति अपनी साम्यावस्था प्राप्त कर लेती है और तब आकाश का लोप हो जाता है। इस आकाशतत्त्व के लोप होने का अर्थ है शक्ति ने अपनी साम्यावस्था प्राप्त करली और इस कारण अब आगे किसी भी प्रकार के स्पंदन की संभावना नहीं।"

Thought is a vibration of mental substance just as the expression of thought in the form of spoken word is the vibration of the ear. All the Spandana pre-supposes heterogeneity (vaishamya). Movement of any kind implies inequality of tensions, electric current flows between two points because there is a difference of potential between them. Fluid flows from one point to another because there is a difference of pressure. Heat travels because there is a difference of temperature. In creation (Srishti) this condition of heterogeneity appears and renders motion possible. Akasha is the possibility of Spandana of any kind. Hence its precedence in the order of creation. Akasha means Brahma with Maya with which Mayashakti or stress is rendered actual from a previous state or possibility of stress which is Shakti's natural condition of equilibrium (प्रकृति-साम्यावस्था). In the dissolution of the Mayashakti, Brahman returns to homogeneity when in consequence Akasha disappears. This disappearance means that Shakti is equilibrated and that therefore there is no further possibility of motion of any kind.

—Shakti and Shakta pp. 466-468.

जस्टिस वुड्रोफ का यह विवेचन इतना स्पष्ट है कि उस संबंध में अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं। प्रत्येक वस्तु के ये जो मूलभूत नादतरंग अथवा शब्द हैं उन्हें ही वेद कहते हैं व जिस प्रकार सृष्टि अनंत है उसी प्रकार उस सृष्टि के प्रत्येक व्यक्त पदार्थ के लिए कारणीभूत होने वाले नादतरंग भी अनंत हैं तथा उनमें से प्रत्येक स्वयंपूर्ण होने के कारण ही शतपथ ब्राह्मण ने **'अनंता वै वेदाः'** कहा है। आकाश तत्त्व का यह स्पन्दन जिस प्रकार ध्वनि-रूप में कानों को प्रतीत होता है उसी प्रकार वर्णरूप में नेत्रों को भी प्रतीत होता है। व इस प्रत्यय के आधार पर ही वर्ण व ध्वनि को परस्पर के माप मानकर चातुर्वर्ण्य की रचना हुई है। केवल समाज के अन्दर चार वर्ग याने ही चातुर्वर्ण्य नहीं है। क्योंकि वर्ण शब्द का मूल अर्थ है रंग, न कि वर्ग। इसीलिए चातुर्वर्ण्य का विचार करते समय उक्त बात का ध्यान रखकर ही उसका विचार करना आवश्यक है।

वर्ण व ध्वनि एक दूसरे के पर्याय हैं यह भारत के विश्वविख्यात वैज्ञानिक सर चंद्रशेखर वेंकट रमण ने रमण स्पेक्ट्रम (Raman Spectrum) के द्वारा सिद्ध किया है। १७ अप्रैल, १९३१ को वाशिंगटन में कोलंबिया रेडियो पर से हॉपकिन्स युनिवर्सिटी के डॉ० डोनाल्ड एच० एन्ड्रयूज़ ने अलकोहल व अन्य रासायनिक द्रव्यों के सार से यह संगीत प्रत्यक्ष सुनवाया। इस प्रयोग से कवि की यह कल्पना कि यह विश्व एक संगीत है प्रत्यक्ष में अवतरित हुई। ई० सन् १९३१ के अगस्त के माडर्न रिव्यू में इसका वर्णन आया है जिसमें कहा गया है :—

*भारत में स्थित कलकत्ता के सर चंद्रशेखर वी. रमन ने भौतिक शास्त्रज्ञों को अणु का संगीत सुनने का, या सच कहा जाय तो देखने का एक नवीन मार्ग उपलब्ध करा दिया है। डॉ० एन्ड्रयूज़ ने बताया कि रमण स्पेक्ट्रम हमें यह बताता है कि कोई भी द्रव पदार्थ, उदाहरण के लिए हम पानी का ही एक अणु लें, वास्तव में वीणा सदृश एक वाद्य है जिसका अपना एक विशिष्ट संगीत है। वास्तव में यहां जिस चीज का प्रत्यय आता है वह ध्वनि नहीं है, प्रकाश ही है। डॉ० एन्ड्रयूज़ ने पानी, ग्रेन, अलकोहोल, वुड अलकोहोल, क्लोरोफार्म, सल्फ्यूरिक एसिड, वेंजीन आदि द्रव्यों की एक के बाद एक संगीतध्वनियाँ सुनवाईं। अलकोहोल की संगीत ध्वनि मंजुल थी जबकि वुड अलकोहोल व क्लोरोफार्म की कर्कश थी।)

---

*"Sir Chandrashekhar V. Raman of Calcutta, India, has recently given Physicists a new way of listening to or really seeing the music of the atoms. The Raman Spectrum, said Dr. Andrews, shows us that a molecule, such as one unit of water, is really a little musical instrument, much like a harp,

वैदिक धारणा की सत्यता अब धीरे धीरे विज्ञान के द्वारा भी सिद्ध होती जा रही है इस कारण विज्ञान की चंचलता को ध्यान में रखते हुए यदि हम अपने द्रष्टाओं के त्रिकालाबाधित सिद्धान्तों पर से विश्वास न ढलने दें तो अच्छा रहेगा।

अस्तु। वैदिक शब्दों के इस शास्त्रीय स्वरूप व सृष्टि की वस्तुओं से विद्यमान उनके नैसर्गिक संबंध को पहचान कर ही पाणिनि ने वैदिक भाषा को 'छंद' यह पारिभाषिक नाम दिया है तथा केवल सांकेतिक भाषा को 'भाषा' कहा है।

ऐसे इन स्वयंभू वेदों का जिन योगसंपन्न विभूतियों को तुरीयारूप ईश्वरी अवस्था में ज्ञान हुआ वे ऋषि थे। जिन्होंने दृश्यानुविद्ध समाधि के द्वारा वेदों का प्रत्यक्ष दर्शन किया वे वेदद्रष्टे कहलाये। जिन्होंने शब्दानुविद्ध समाधि में उन्हें सुना उन्होंने वेदों को श्रुति कहा व जिन ऋषियों ने उनका प्रगटीकरण किया उन्हें 'मंत्रकृत्' कहा गया।

आज के व्यक्त पदार्थ जिन ध्वनियों के स्थूल रूप हैं वे विश्व के आदिद्रव्य ध्वनितरंग ही वेद हैं। वे नित्य, अपौरुषेय, स्वयंभू व अनादि हैं। उनसे सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई इसका हमने अब तक, आज के विज्ञान के प्रकाश में, विचार किया है। और इससे हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वेदों की अपौरुषेयता केवल कोरी श्रद्धा ही नहीं है, अपितु वह एक शास्त्रीय संकेत है। रमण स्पेक्ट्रम व आइन्स्टीन के द्वारा खोजे गये सत्यों के संबंध में यदि कोई यह कहे कि उनका निर्माण भी रमण व आइन्स्टीन ने ही किया तो उसका यह कथन जैसे हास्यास्पद होगा, वैसे ही वेदों को भी पौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष द्वारा तैयार किया हुआ मानना भी हास्यास्पद ही होगा। परन्तु फिर प्रश्न यह खड़ा होता है कि आखिर ऋचाओं की रचना कैसे हुई ?

कोई भी शब्द याने ध्वनितरंगों का संघात। मूल आदिद्रव्यात्मक ध्वनितरंगों व व्यक्तसृष्टि के पदार्थों का स्वयंभू व नैसर्गिक संबंध पहचान कर आत्मकल्याण व जगत्कल्याण की दृष्टि से वातावरण में यथायोग्य परिणाम उत्पन्न करने के लिए, उस संबंध को ध्यान में रखकर, तदनुरूप की गई शब्द रचना ही ऋचा है। इस कारण वैदिक शब्द आज की भाषा में विशिष्ट energy, velocity व mass से युक्त हैं। केवल शब्दरचना को देखकर उन्हें

---

playing its own characteristic tune. In fact it is really light and not sound that is given off. The chords of water, grain, alcohol, wood alcohol, Chloroform, benzene, gasoline, sulphuric acid were played in turn by Dr. Andrews. Alcohol had rather a sweet sounding chord, but Chloroform, like wood-alcohol, was harsh.

—Modern Review, August 1931

पौरुषेय कहना हो तो भले ही कह लें, परन्तु उनकी मंत्रमयता ऊपर कही गई जिन बातों के लिए है उनकी दृष्टि से विचार करने पर उनको नित्य, स्वयंभू व अपौरुषेय ही कहना चाहिए। 'वेद परमेश्वर ने टाइपराइटर पर टाइप किया है क्या ?' यह प्रश्न कितनी दंभपूर्ण मूर्खता का है, यह इस विवेचन से स्पष्ट ध्यान में आ जाएगा।

जीव भी परमेश्वर का ही अंश होने के कारण वह भी इन नादतरंगों के संघात वेदरूपी शब्दों से सामर्थ्य उत्पन्न कर सकता है तथा अपना आत्म-कल्याण साध्य कर सकता है। किंतु इसके लिए तीन बातें करना आवश्यक है। वे हैं—अपनी संकल्पशक्ति की क्षीणता को दूर करना, पंचीकरण के पंक से मुक्त होना तथा शरीर ही इस प्रकार के शब्द संगीत का नादयंत्र होने के कारण उसे शुचितम व सिद्ध करना। इसी के लिए शुद्धता के नियम अस्तित्व में आये हैं। यही कारण था कि वेद धारण एक महाव्रत बन गया। इन वैदिक शब्दों की नादतरंग रूप वाहकता पर यदि हम ध्यान दें तो वही शब्द उसी क्रम से व उसी उदात्त, अनुदात्त व स्वरित ठसके से क्यों कहा जाना चाहिए, तथा स्वरप्रक्रिया का वैदिक भाषा में इतना महत्व क्यों है यह स्पष्ट समझ में आ जायेगा। **'अग्निमीले'** की जगह **'वह्नि स्तौमि'** क्यों नहीं कहना चाहिए; इतना ही नहीं तो **'ईले अग्निं'** भी क्यों नहीं कहना चाहिए यह इससे स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि दोनों ही वाक्यों का लौकिक अर्थ समान होने पर भी अग्नि व वह्नि शब्दों के नादतरंग का संघात भिन्न होगा व इस कारण अपेक्षित परिणाम न उत्पन्न हो सकेगा।

नवभारत के ब्रह्मर्षि व लोकमान्य का गुरुस्थान सुशोभित करने वाले अतीन्द्रिय-साक्षात्कारी ब्रह्मज्ञ श्री अण्णा साहेब पटवर्धन वेदों का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

*"श्रेष्ठ प्रतिभावान् वैदिक लोगों ने यह पहले से ही जान लिया था कि विचारों की वाहक भाषा सदा दो प्रकार की होती है। इस भाषा का एक प्रकार वह है जो सामान्य मनुष्य अपने व्यवहार में प्रयुक्त करता है। भाषा के इस प्रकार में ध्वनि उत्पन्न करने वाली आत्मा की शक्ति का केवल विचारों के प्रगटीकरण के लिए तथा उसे सजाने के लिए उपयोग किया जाता है तथा मन और इन्द्रियों पर बाह्य बातों के द्वारा उत्पन्न किये गये परिणाम का आविष्करण किया जाता है। उदाहरणार्थ, ऐसी भाषा में कामचलाऊ दृष्टि

---

*"The highly gifted men of the Vedic race early found out or rather became conscious that language as vehicle of thought must always remain in or assume two forms. One of these forms of language has been that which has been used and acquired by ordinary men in their working state, and in which the powers

से 'पानी' को 'काड़ी तोड़नेवाला' यह नाम दिया जा सकता है, व यह नाम संकेतित रूप में रूढ़ भी हो सकता है। सामान्य मनुष्य की इस भाषा में भिन्न भिन्न प्रकार की अनेक बाह्य बातें, गुण, हेतु व यदृच्छा शब्द व शब्दार्थ के संबंध की निर्मिति के लिए कारणीभूत हो सकते हैं। भाषा का दूसरा प्रकार है जिसमें नैसर्गिक रीति से ही आत्मा की ध्वनि उत्पन्न करने वाली शक्ति पर परिणाम किया जाता है और उस आघात से, जो उदाहरणार्थ बाह्य वस्तु के घटक द्रव्य तथा उसकी आन्तरिक ज्ञानशक्ति से उत्पन्न हो सकता है, वह शक्ति व्यक्त रूप धारण करती है। ऐसी भाषा में पानी को 'हाइड्रिक आक्सा-ईड' जैसा कोई नाम प्राप्त होगा (जो उसके मूल घटकद्रव्य हाइड्रोजन व आक्सीजन से प्राप्त होता है। यहाँ ध्वनि उस पदार्थ के रूप से नैसर्गिक रीति से संबद्ध है)। इस प्रकार वैदिक लोगों को बहुत पहले से ही भाषा के इन दो प्रकारों का ज्ञान हो गया था। व्यावहारिक व सामान्य प्रकार को उन्होंने 'भाषा' नाम दिया तथा दूसरे उच्चतर व अतीन्द्रिय प्रकार को 'छन्दस्', 'वेद' अथवा 'परोक्ष' नाम दिया।"

"सब प्रकार की शक्तियाँ आत्मा या परब्रह्म के चैतन्य अंश से ही उद्भूत होने के कारण उन सबकी क्रिया का स्वरूप आत्मा द्वारा ही निश्चित हुआ मानना चाहिए। और इसीलिए सब प्रकार की शक्तियाँ, जो केवल स्पन्दन के भिन्न भिन्न प्रकार मात्र हैं, परस्पर एक दूसरे में रूपान्तरित की जा सकती

---

of the स्व or human soul of producing sound has been called forth for the purpose of forming and clothing conscious notions which might answer the impressions produced by the mind and the senses in respect of external objects. As a hypothetical instance, it may be said that water may be called and denoted by the name stick-breaker. Thus varieties of external forms, qualities etc. of objects and other accidental facts and circumstances may be said to form the basis of the bulk of words and the relations of words as contained in the ordinary human language. The second form of language would naturally be one of which the sound producing powers of the soul are affected and called forth by direct impulse received by the powers, for instance, from the constitutional parts of the external objects and the internal state of consciousness and thus water in the language of the second form might receive some such name as hydric-oxide. Thus there came to be recognised by the Vedic people two forms of human language from early times. The ordinary or the conventional form was called by them भाषा; and the second higher and transcendental form was called छन्दस्, वेद or परोक्ष.

(The Brahmarshi's Gospel p. 158-59)

हैं। इस प्रकार वर्ण, प्रकाश, उष्णता, आकर्षण शक्ति आदि सब स्पन्दन के ही भिन्न भिन्न प्रकार होने के कारण परस्पर रूपान्तरित हो सकते हैं। और चूंकि ध्वनि आत्मा के ज्ञानशक्तियुक्त स्पन्दन का एक प्रकार है और चूंकि मानसिक अवस्थादि समेत बाह्य वस्तुओं के चैतन्य का प्रगटीकरण अतीन्द्रिय विज्ञान के अभ्यास से किया जा सकता है, इस कारण ध्वनि का बाह्य वस्तु से सीधा संगतिकरण एवं संबंध संस्थापित हो जाता है। इस प्रकार ध्वनि को आवश्यकतानुरूप भिन्न भिन्न स्वरूपों में प्रगट किया जा सकता है। इसी आधार पर वैदिक लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह समस्त सृष्टि नाद-ब्रह्म ही है। इस प्रकार वैदिक द्रष्टापुरुषों ने यह पहचाना कि शब्द एक स्वतंत्र उत्पादक शक्ति है। ग्रीक शब्द 'ओमेगा' वैदिक ॐ का ही रूप है जिसका उच्चारण अँग्रेजी भाषा के 'O' के उच्चारण के समान होता है। मूल ग्रीक भाषा में 'ओ' का उच्चारण अँग्रेजी भाषा के 'नाट' शब्द के 'ओ' के उच्चारण के समान ह्रस्व है। ओमेगा शब्द 'ॐ+एक' शब्दों से बना है। उनके एकत्रीकरण से यह अर्थ निकलता है कि ॐ शब्द एकत्व की ध्वनि है। वैदिक लोगों ने अपने अतीन्द्रिय व अन्य विज्ञानों का प्रसार मनुष्यमात्र में किया और उस शिक्षा के कारण वेदों की यह बात कि नाद सृष्टि का मूल है विभिन्न अवैदिक जातियों की भाषाओं एवं धार्मिक कल्पनाओं में समा गई। इसी कारण बाईबिल के पहले ही सृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण में अलग व आकस्मिक रूप से 'सेड' शब्द प्रयुक्त कर इसी वैदिक सिद्धान्त का मंडन किया गया है। जैसे—"गॉड सेड लेट देयर वी लाइट एण्ड देयर वाज़ लाइट।' (परमात्मा ने कहा कि प्रकाश होवे और प्रकाश उत्पन्न हो गया।) यही सिद्धान्त अधिक स्पष्ट रीति से सेंट जॉन ने अपने ग्रंथ के पहले वाक्य में प्रगट किया है। वह

As all powers proceed from the soul or the active part of the supreme being, the modes of their action must be considered to be determined by soul; and it is for this simple reason that all kinds of powers being various modes or degrees of motions are found to be inter changeable. Thus colour, light, heat, magnetism and the like being forms of motion are mutually conversible and sound is a form of conscious motion of the soul, and as direct consciousness of external objects including mental condi-tions etc. can be produced by means of the practice of the trans-cendental science, homogeneity and correspondence being directly established between the sound on the one hand and the external objects on the other and thus sound can be and has been made to assume all forms of conceivable and conscious living motion and thus the Vedic people found that the whole universe was a sort of congelation of sound. Thus the gifted individuals of

वाक्य है—सृष्टि के आरंभ में शब्द था। शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ईश्वर ही था।"

दो शंकाएं

एक शंका साधारणतः यह उपस्थित की जाती है कि वैदिक शब्द यदि मंत्र हैं तो उनमें लौकिकार्थत्व है या नहीं। परन्तु उन शब्दों की मंत्रमयता को सम्हालते हुए भी उनके लौकिकार्थत्व को कोई बाधा नहीं पहुँचती। जैसे, एक विशिष्ट राग में गाया गया भावगीत उस राग की स्वर रचना से अंतःकरण पर परिणाम भी उत्पन्न करता है तथा अपना स्वतंत्र अर्थ भी रखता है। स्वरतरंगों के योग से योग्य परिणाम उत्पन्न कर सकने वाली तथा योग्य अर्थ रखने वाली ऐसी गीतरचना हम प्रत्यक्ष देखते ही हैं। गीत का गानत्व उसकी स्वर रचना में है तथा लौकिकार्थत्व उसकी शब्द योजना में है। ये दो भाग स्वतंत्र होने के कारण उनमें आपस में विरोध होने का कोई कारण नहीं। वेदों का सामर्थ्य उनकी मंत्रमयता में है, यह समझते हुए इतिहासादि कारणों के निमित्त उसके लौकिकार्थत्व का उपयोग कर लेना उचित ही होगा इसमें संदेह नहीं। जहाँ लौकिकार्थ से वैचारिक सम्पत्ति प्राप्त होती है वहाँ उच्चारशास्त्र के अनुसार पठन करने से निराला ही परिणाम प्रगट होता है। इसीलिए प्राचीन

---

the Vedic race therefore early recognised that sound was in itself an independent creative original power and the Greek word Omega is the Greek name corresponding to the Vedic sound OM which corresponds to the sound of the vowel O in the English language. Note the sound of O in the native Greek words is smaller, spasmodically short, as the sound of O in the English word 'not'. The word Omega is made of the Sanskrit words 'Om' 'ek' which together meaning that the syllable OM is the sound of the unity. Thus owing to the Vedic teaching which propagated among mankind the transcendental and other sciences, the Vedic fact that sound was at the root of creation percolated as it were into the languages and religious ideas of the various non-Vedic races. And accordingly the first book of Moses called Genesis recorded though abruptly and in an isolated matter the above mentioned grand Vedic fact by using the word 'said' in its verse No. 3 etc. and God said let there be light and there was light. And the same Vedic fact was also, though in the same manner, yet more clearly stated by St. John in first book which opens with the following verse :

In the beginning was the word and word was with God and the word was God.

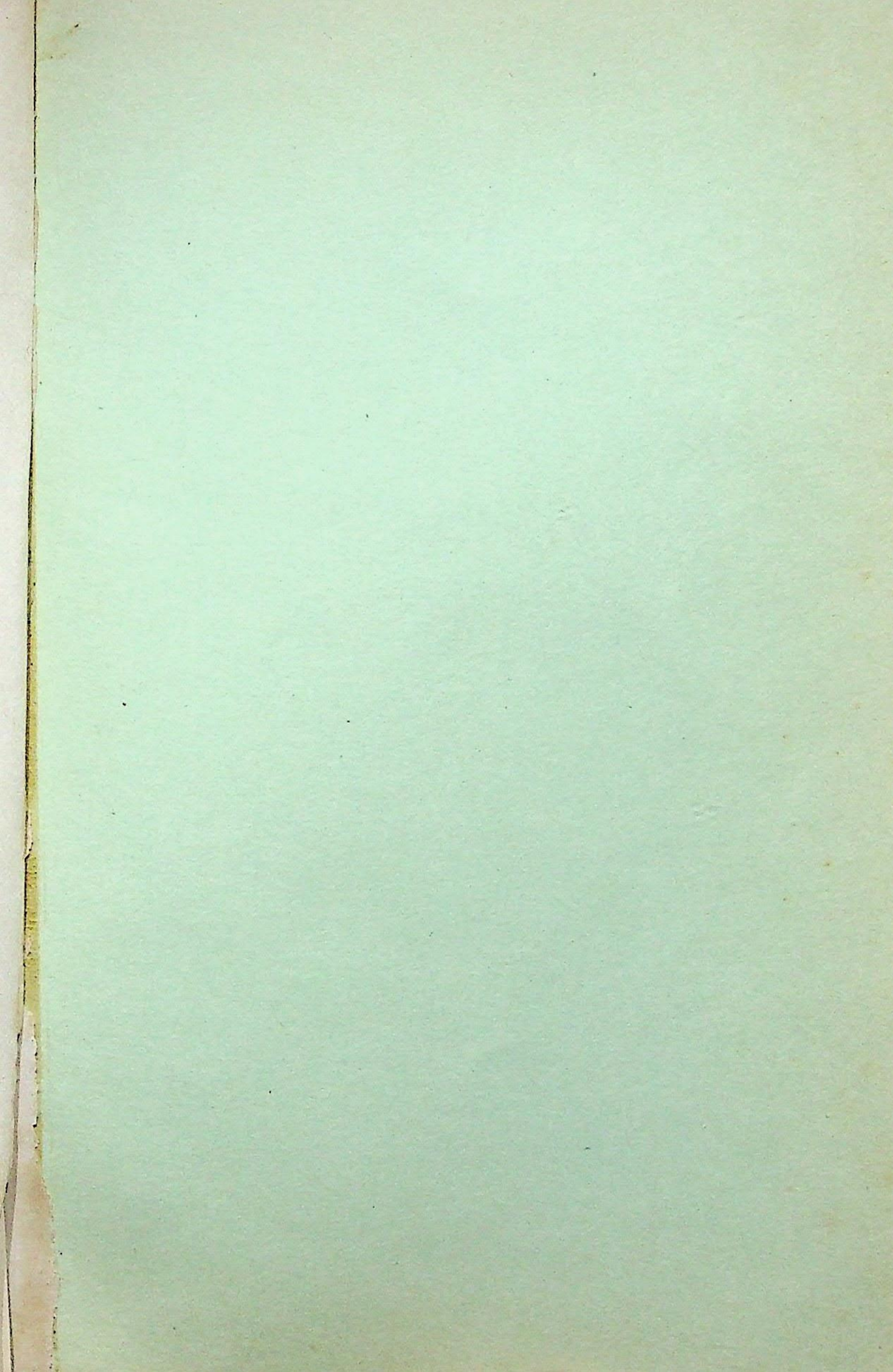
—The Brahmarshi's Gospel pp. 165-67

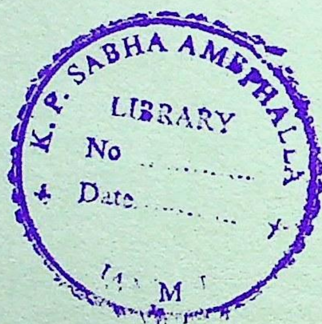
काल में जहाँ उच्चारण की परम्परा अक्षुण्ण रहते हुए वेदों का संरक्षण किया गया वहाँ निरुक्त भाष्यादि के द्वारा वेदार्थ का प्रयत्न भी हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज के वेदार्थकारों के प्रयत्न श्रेष्ठ हैं, किंतु दुर्दैव इतना ही है कि प्राचीन भाष्यकारों के अनुसार वे वेदों का वेदत्व मात्र नहीं पहचान सके।

एक दूसरी शंका इस प्रकार की प्रदर्शित की जाती है कि वेद सरीखे गंभीर ग्रंथ हमारे पूर्वजों ने निर्माण किये यह कहने में हमारे पूर्वजों का जो गौरव होता है वह गौरव यह कहने से नहीं होता कि वेद ईश्वर ने निर्माण किये। क्योंकि वैसा कहने से कर्तृत्व ईश्वर की ओर जाता है और ये केवल पाठी बनते हैं। परन्तु अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त शंका निर्मूल है। रेडियम की खोज क्यूरी दम्पति ने की, सर रमण व आईन्स्टीन ने भी कई महत्वपूर्ण सूक्ष्म द्रव्य खोज निकाले। अब यदि हम कहें, उन्होंने उन वस्तुओं को 'खोजा' है, तो क्या इससे उनका महत्व कम हो जायगा? या यदि हम इसके स्थान पर यह कहें कि उन लोगों ने उन वस्तुओं का 'निर्माण' किया, तो क्या ऐसा कहने से उनका मान बढ़ जायगा? उल्टे, ऐसा कहना तो अशास्त्रीय ही सिद्ध होगा। वैदिक ऋचाएँ, ज्यों की त्यों ईश्वर से प्राप्त हुईं व अपने ऋषियों ने केवल उन्हें ग्रहण किया, इस प्रकार की अपौरुषेयत्व की स्थूल कल्पना के बदले वेदों को पौरुषेय मानने में, अर्थात् वैदिक ऋचाओं की निर्मिति अपने पूर्वजों द्वारा मानने में हमारे पूर्वजों का गौरव बढ़ता है यह सत्य है, परन्तु इन दोनों प्रकार के वाक् प्रयोगों में जो भावना दिग्दर्शित की गई है उसमें शास्त्रीयता की अपेक्षा भावनाशीलता का संबंध अधिक है। शास्त्रीय विचार जिस कारण से वेदों को स्वयंभू व अपौरुषेय मानता है उसको ध्यान में रखते हुए उन अपौरुषेय ध्वनितरंगों का वहन करने वाली शब्द सृष्टि जिन्होंने रची उनकी ओर उसका कर्तृत्व हम सौंपते ही हैं। और इस व्यवस्था का कर्तृत्व उनको सौंपकर आज के विज्ञान को भी चकित कर देने वाले प्रत्यक्षदर्शी अन्वेषक के नाते हम अपने पूर्वजों का यथार्थ व अधिक गौरव करते हैं।

तात्पर्य यह कि सृष्टि के आदिद्रव्य ध्वनितरंग ही वेद हैं और इस दृष्टि से वेदों को अपौरुषेय कहना यथार्थ हैं। उन ध्वनितरंगों का वहन करने वाले शब्दों को ऋषियों ने खोज कर उनसे ऋचाओं का निर्माण किया। इस अर्थ में वे ऋषि मंत्रद्रष्टा व मंत्रकर्ता हैं। अपौरुषेयता के संकेत का यही स्पष्टीकरण है। वैदिक साहित्य के बहिरंग परीक्षण के साथ ही उससे संबंधित इस महान् संकेत का स्पष्टीकरण करना आवश्यक था। क्योंकि उसके बिना समस्त ग्रंथों की अपेक्षा वेदों को ही विशेष महत्व क्यों है, इस बात की उपपत्ति प्राप्त होना संभव नहीं था। इसीलिए यह सारा विषय इतने विस्तार से प्रतिपादित किया। यहाँ वेदों का बहिरंग परीक्षण समाप्त कर अगले अध्याय में हम वैदिक राष्ट्र के अंतरंग का दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करेंगे।

शब्दानुक्रम





महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास

- सन् १९१८ में नागपुर में जन्म ।
- केवल १८ वर्ष की अल्पायु में ही काव्यतीर्थ, वेदान्ततीर्थ व साहित्याचार्य की उपाधियों से विभूषित
- स्वातन्त्र्य संघर्ष में १९३९ (हैदराबाद), १९४१ (भागलपुर) व १९४९ (रायपुर) में जेलयात्रा ।
- साप्ताहिक 'आदेश' व साप्ताहिक 'युगान्तर' के सह सम्पादक तथा 'हिन्दू हृदय' त्रैमासिक के सम्पादक रहे ।
- विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लिए दो हजार से अधिक ग्रन्थों की समालोचना की ।
- पूना में प्रतिवर्ष १५ दिन से लेकर २८ दिन व्यापी व्याख्यान मालायें ।
- १९५७ में कामकोटि पीठ के शंकराचार्य श्री चन्द्रशेखर सरस्वती से मन्त्रदीक्षा ।
- १९६८ में पार्थिव शरीर का त्याग ।
- अंग्रेजी कृतियां—

  Glimpses of the Vedic Nation
  Armed Struggle for Freedom
- मराठी कृतियां—

  वेदांतील राष्ट्रदर्शन
  भगवान श्रीकृष्ण
  पुण्यश्लोक छत्रपति शिवाजी
  सत्तावन ते सुभाष
  आर्य चाणक्य
  आद्य शंकराचार्य
  स्वातन्त्र्यवीर सावरकर
  स्वामी विवेकानन्द
  समर्थ रामदास स्वामी
  महारुद्र देवता का स्वरूप
  गीत भारत